TEXT FLY WITHIN THE BOOK ONLY

TEXT CROSS WITHIN THE BOOK ONLY

पद्मिनी

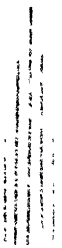

शंभुप्रसाद बहुगुणा

UNIVERSAL
LIBRARY
OU_182953
UNIVERSAL
LIBRARY

OUP -68—11-1-68—2,000

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No H81 B15P Accession No. H1110

Author बहुगुणा, शंभुप्रसाद

Title पयस्विनी

This book should be returned on or before the date last marked below

हिन्दी-कविता

१

पयास्विनी

शंभु प्रसाद बहुगुणा

प्रकाशक
शम्भु प्रसाद बहुगुणा
आइ. टी. कालेज, लखनऊ.

मुद्रक
रमाकान्त मिश्र
लखनऊ-प्रिंटिंग-हाउस
अमीनाबाद, लखनऊ

पयास्विनी

हिन्दी-साहित्य, हिन्दू-समाज और संयुक्त- प्रान्त (उत्तर-प्रदेश) आज जिस रूप में हैं, उसे देखते हुए मन में यही भाव उठता है—इन से अधिक असुंदर वस्तुएं, परमात्मा की सृष्टि में कोई भी और नहीं; किन्तु इन्हीं तीन नये नरकों के बीच विश्व के विराट् ईश्वरों का जीवन अमृत, सरल अकृत्रिम मानवों के हृदयों का सौन्दर्य-कमल-वन और प्रकृति के रम्य देश हिमवंत का वरदान भी है।

हृदय के सुमनों का वास्तविक स्थान विलास के वक्ष पर नहीं, सौन्दर्य देवता के चरणों में है। सौन्दर्य, उपासना की वस्तु है, उपभोग की नहीं। जो उपभोग चाहता है वह नष्ट हो जाता है, जो उपासी है उसे शान्ति वरण करती है, वह तर जाता है।

हृदय-सरस्वती, सौन्दर्य-नंदिनी स्वयंवरा है, स्वर्गीय ज्योति है, जिसे वह वरण करती है उस के स्वर गंधर्व-गान करने लगते हैं, उस के लिए सौन्दर्य के असीम द्वार खुल जाते हैं। जो वासना की मलिनता से अपने मंदिर को अपवित्र किए रहता है उसे सौन्दर्य-प्रभा के दर्शन नहीं होते वह सत्य को नहीं अपना पाता। उस का जीवन, नारकीय कृमियों का-सा घृणित हो जाता है।

स्वर्ग की ज्योति एक दिन सब के जीवन में आती है जो उस की उपासना एक निष्ट भाव से एकान्त रूप से करता है उस का जीवन धन्य है, जो उस का उपभोग चाहता है उस के हाथ अंधकार के विषधरों से डसे जाते हैं। विष्णु के व्यापारी ऐसे विषधरों से साहित्य भर गया है, हे रुद्र ! तुम अपने भयंकर नृत्य से इन्हें महिष-कंठ

किंकिणी-मय कर दो–

"क्षमा-दया हो, सहज-शक्ति हो, सरल पुलक हो, श्रद्धा हो!
विरले प्यार हो, दुर्बलता हो, करुणा हो, वत्सलता हो,
जहाँ रौद्र से रिक्त मधुरता, बिना विकृति की सुन्दरता हो,
महारुद्र उस दुर्बल उर को, महिष कंठ किंकिणीमय कर दो"

(यशवंत)

और दिशा-दिशा में जीवन में जो कलुषित-प्रवाह उमड़ चले आ रहे हैं, जिन्हें हमारे ज्ञान और प्रकाश के कहे जाने वाले अंधकार और व्यभिचार के केन्द्र समेटते-बाँटते चले जा रहे हैं, उन का समन हो: पृथ्वी के यशस्वी- तपस्वियों की ज्योति इन अंधकार केन्द्रों में जग मगावे। ये समझ पावें साहित्य के दुर्गम शिखरों पर जुगनू नहीं चढ़ पाते वहाँ चिर उज्ज्वल आत्म-प्रकाश को विषमताओं के बीच भी बचाये रख सकने वाले मनीषियों का तपोवन है

दुर्गम-शिखर

यह यशस्वियों की पृथ्वी है, यह वीरों की
कर्म-भूमि है; इन दुर्गम-शिखरों के ऊपर
कौन वास कर सकता है, जिस ने अपने को
हो न देवता बना लिया? वज्रों से हिलते
इन मेघों को चीर, सूर्य्य की दीप्त कान्ति को
कौन देख सकता है, जिस के दृढ़ पंखों में
हो न बाज की शक्ति? अरे इस अंधकार से
और मरण से ढकी हुई पृथ्वी में अपने
पथ को कौन देख सकता, जिस के नयनों में

हो न खेलता, आत्मा का प्रकाश चिर उज्ज्वल ?
जीवन के छिद्रों-छिद्रों से फूट आ रहे
सघन निराशा के कलुषित-प्रवाह, प्राणों के
दीपक को विलीन कर देने अंधकार में,
इन उत्पातों की बाढ़ों से अपने उर की
ज्योति बचाए रख सकता जो उसी रत्न को
धारण करती है पृथ्वी मस्तक पर अपने !

(चन्द्रकुँवर बर्तवाल)

नाथ ! कल्प-वृक्ष को कुछ शान्ति हो ! उस के चारों ओर लगी आग की लपटें शान्त हों; करुणा की ऐसी वर्षा कीजिए जिस से प्राणों की मुरझाती खेती लह लहा उठे और अनाथ बालकों की तरह द्वार-द्वार फिरते, आँखों में आँसू भर आश्रय माँगने वाले गीत जन जीवन की गंगा माई में मिल कर उस की गोद में आश्रय पा, पृथ्वी की नगर नगरियों में, ग्राम कुटियों में बचर सकें

कौन, अनाथ बालकों से फिरते, द्वारों पर,
आश्रय माँग रहे, आँखों में आँसू भर ?
हाय ! गीत हैं ये मेरे, जिन के स्वर सुन कर,
हँसते हैं पृथ्वी के लोग, घृणा से भर कर !

ओ गंगा माई !

तुम पवित्र हो, तुम महान हो, तुम सब को सदैव सुखदाई !
तुम हिम के शिखरों से अपने साथ स्वच्छ लहरों को लाई !
दिग-दिगन्त में जननि ! तुम्हारी कीर्ति-कौमुदी छाई !

महन कार्य वह जिसे पूर्ण करने को तुम भू-तल पर आई
योग-दान देते हैं निर्भर, इस लिए माँ तुम्हें सदाई!

मै सूने शिखरों से आया

दावानल ने सुलग जिन्हें तरु की छाँहों से रहित बनाया,
कठिन सूर्य ने जिन्हें अग्नि की किरणों से जी भर झुलसाया
कभी न जिन पर पड़ी, जल।भरित सावन के मेघों की छाया!
प्यासे रहे, कभी न जिन्हों ने वर्षा जल।अधरों पर पाया,।
उन्हीं तृषित शैलों के आँसू ले मै तुम से मिलने आया!

मेरे आँसू ग्रहण करो माँ

किसी योग्य मै नहीं, किन्तु तुम मुझ को उर के बीच धरो माँ!
मुझे गोद में धर, पृथ्वी की नगर-नगरियों में विचरो माँ!
मेरे माथे पर करुणा की वर्षा बन कर सदा झरो माँ!

चन्द्रकुँवर बर्त्वाल

माँ

माँ! मेरा आंचल सुन्दर फूलों से भर दे!

खिलूँ निर्जन बन में एकाकी, ऐसा हे माँ! मुझ को वर दे!
माँ मेरा आँचल फूलों से भर दे! उन में इतनी मनहरता हो जो
सौरभ सुरभित, बन को कर दे, मां, मेरा आँचल फूलों से भर दे!
चू पड़ें कभी वे धरती।तल पर, उमगा मिट्टी-पत्थर को भी दे!
माँ मेरा आंचन फूलों से भर दे! मन्द मलय पवन जब आवे
वे अंग-अंग को तब मुस्का दें, मां, मेरा आँचल फूलों से भर दे!
मै मर जाऊँगी रोते।गा ही, पर पराग उन का बिखरा दे,

माँ मेरा आँचल फूलों से भर दे !मुझ में है रस, आनंद नहीं.
पर इन को मधु से भर जाने दे,माँ मेरा आँचल फूलों से भर दे!

मैं

मैं प्राची की मधुर पहली रेखा, मुझ को है संध्या की चाह नहीं,
जगा कुसुमों को कोमल स्पर्शों से,
पुलकित किसलय को कर जाऊँगी
जल-थल को दे मृदुल चेतना. मैं हँसती आई, हसती हो जाऊगी
मैं प्राची की मधुर पहली रेखा, मुझ को है संध्या की चाह नहीं,
मैं निर्झर की बहती धारा,मुझ को है विस्तृत सागर की चाह नहीं.
सिचित कर के गिरि शिखरों को, मैं हिम को हसती ही पाऊगी
मिल निर्झर में सरिता जल से, उस को लावित कर जाऊंगी.
मै निर्झर की बहती धारा,मुझ को है विस्तृत सागर की चाह नहीं.
मै पावन गिरि-शिखरों से उतरी, मुझ को है पापों की चाह नहीं,
इधर उधर बिखरे फूलों को प्राणों से भर जीवन दे जाऊ गी,
युग-युग के प्यासे उन अधरों की.मैं अपने जलसे प्यास बुझाऊगी।
मैं पावन गिरि-शिखरों से उतरी, मुझ को है पापों की चाह नहीं
मै पावन, निरभ्र नभ-सी पावन, देखी मैं ने शूलों की राह नहीं,
स्नेह-जल-कण से कर शृंगार, पाषाणों को चीर चली जाऊँगी
नित नन्हे-नन्हें गीतों से मैं, चंचल नदियों को बहलाऊगी.
मैं पावन निरभ्र नभ सी पावन, देखी मैं ने शूलों की राह नहीं!

डा०. विनी एम एन. ए

हृदय के आन्तरिक सौन्दर्य के दर्शन जिसे हो जाते है वह उस

सौन्दर्य के चरणों में लोटने की कामना करता है। जिस मानव-शरीरिणी करुणा के स्नेह-सिंचन के कारण जीवन की सरसता बनी रहती है उस के चरणों में मानव प्राणों को शान्ति प्राप्त हो। वह चाहे वीणा वादिनि हो, चाहे माँ हो, चाहे बहिन हो, अथवा कमल-दल-लोचना हो, उस की शीतल-छाँह में, उस के चरणों में जीवन की ज्वालाओं में झुलसकते हुए ये प्राण मूर्छित हो जावें!

हृदय की स्नेह की दृष्टि में सरलता के देवताओं के दर्शन जिस ने किए हों उस ज्योति-स्वरूपा रस-पयस्विनी के चरणों की वंदना करता हूँ, माँ, जगमें कितने दीन-दुखी हैं, यह तुम स्वयं जानती हो!

साहित्य-मरु-भूमि बन गया है। जन-जीवन के प्राण कुम्हला रहे हैं। विष के प्रभाव से धरती मूर्छित हो चुकी है। इस समय अपना वरदान बाँटो। हृदय की पयस्विनी को अबाध बहने दो। चेतना-शून्य भूमि लहलहा उठेगी।

सूची

१—पर्यस्विनी
२—हृदय-प्रतिमा
३—मेघ-मुक्ता
४—जीवन-सुन्दरता

हृदय-प्रतिमा

"जीवन की सुन्दरतम, लघुतम, मार्मिकतम कविता केवल तीन वर्णों में अपनी कहानी कहती है--'हृदय !'* 'प्रतिमा' कलाकार के हृदय की कहानी सुनाती है। कवि इन दोनों को अपने गीतों में प्रतिभा से अभेद स्पंदन दे पाता है और जन्म ले लेती है 'हृदय-प्रतिमा।'

'हृदय-प्रतिमा' के कवि चन्द्र कुँवर ने भी एक दिन इस पृथ्वी पर जन्म लिया था। जग में उन का वंश बर्त्वाल वंश के नामसे ख्यात है, धार के पँवारों की एक शाखा किसी समय हिमप्रान्त में आ बसी। गढ़वाल जिले की तल्ला नागपुर पट्टी में केदारनाथ की घाटी में उठे पर्वतों पर चीड़ के वनों के बीच माल कोटी गाँव को इन लोगों ने बसाया। इसी गाँव में स्वार्गीय ठाकुर भूपाल सिंह जी के पुत्र चन्द्रकुँवर बर्त्वाल का जन्म श्री जानकी देवी के गर्भ से पाँच भाद्रपद उन्नीस सौ छहतर विक्रमीय को आर्द्रा प्रथम चरण मिथुन राशि में वृहस्पतिवार को हुआ था। अठ्ठाईस वर्ष चौबीस दिन की जीवन-अवधि लेकर चन्द्र कुँवर इस पृथ्वी पर 'सूरज मुखी' बन आये थे। हिमालय पर गिरी वह पहिली किरण पृथ्वी पर रवि की तृषित चकोरी बन कर रही और अंत में बसंत की 'ओस' की भाँति नभ में लीन हो गई। रविबार, उनतीस भादौं दोहजार चार

१—डॉक्टर विनी, एम०-एच०-एच०

विक्रमीय को मंदाकिनी और कांचन-गंगा के तीर स्थित पँवालिया गाँव में उस स्वर्ण-हंस को नभ की मुग्ध हवाएँ हर ले गईं।--

'कमलों के वन में फिरते उस स्वर्ण-हंस को
हर ले गईं अचानक नभ की मुग्ध हवाएँ,
फिर न सुनाई दिया कहीं भी वह कल कूजन,
लुप्त हुआ वह रूप धरा से, और हाय जो
उसे प्यार करते थे जीवित न रहे वे भी!'

जीवन का अंत है, किन्तु प्रेम का नहीं। शरीर नष्ट हो जा सकता है, किन्तु जीवन का आनंद नहीं। घन तम में सुनहले दिन के सोत खो जाते हैं किन्तु प्राची से झरने वाली आशा, अन्त हीन है। इसी अंतहीन आशा से चन्द्र कुँवर ने बाल्यकाल में वर्षा के धुले आकाश में उतरते प्रभात की शोभा का अभिनंदन किया था और 'समझदार' 'बड़े' कहे जाने वाले हृदय-हीनों से 'बदमाश' वचन--बांण की प्रखर वेदना पाई थी। कारण? प्रभात अभिनंदन की दूसरी पंक्ति में 'पुलक-कंप' शब्द आ गये थे वही यह 'पुलक-प्रभात' है —

ओ प्रभात, मेरे प्रभात, सुन्दर आओ धीरे-धीरे!
पुलक-कंप की इन प्राणों की चल सरिता के तीरे!
निर्मल जल पर पड़ती लख कर तरुण किरण की छाया,
इस निरभ्र नभ-सा मुझ को भी है हँसना ही भाया!
कण-कण हर्षोन्मत्त- हो रहा, हँसती है पृथ्वी बाला,
लगी धुक-धुकी टूटे उर में मिलन काल की सी ज्वाला।
पिच्छल नभ पथ देख रहा हूँ, मग्न तुम्हारे मृदुल चरण,

आओ धीरे पिच्छल पथ है, कहता इस जग का कण-कण।

किन्तु किसी भी यशस्वी की महिमा मृगी इस पृथ्वी पर खलों के विष-बुझे वचन-बाणों से विद्ध होने से कभी भी नहीं बच पाई। चन्द्र-कुँवर सोलह वर्ष की अवस्था में प्रभात-अभिनदन के कारण उस से विद्ध हुए किन्तु उन्हो ने सौन्दर्य-लतिका-तल पर वसन्त की भाँति बैठ सुन्दरता की 'हृदय-प्रतिमा' की 'रूप-रेखा' अंकित करना त्याग नहीं दिया वरन और भी अधिक एक निष्ठि भाव से उस रूप-रेखा के गीतों का सृजन करने लगे जिसका प्राण यह 'हृदय-प्रतिमा' है। रूप-रेखा की मंगल कामना उन्होने की—

पुष्प में भरती जो नव रंग, और फैलाती जो मधु मास,
उस ही रेखा के गीतों का, सभी की वाणी में हो वास!

और 'हृदय-प्रतिमा' की वंदना में वे 'प्रथम-रश्मि' में लीन हो गये।

देव! शैशव का हो फिर वास।
प्रथम सभ्यता-रश्मि जगत में छिटकावे माँ नवल प्रकाश,
मेरे भोले स्वर्णिम युग में, आवे नभ में सूर्य्य प्रकाश!
कोमलता, संगीत, मधुरता का हो फिर, वाणी में वास!
विरह विधुर पीड़ा से रोते अवयव मेरे कर दें लास,
दे दो मुझको मेरा शैशव, जिस में हो स्वतंत्रता-भास,
बना दो फिर विभूति आगार, हमारा यह स्वर्णिम संसार,
दीन मलीन, कुटीर मध्य से, आशान्वित लखती हूँ द्वार,
स्वयं न पीड़ा दूर कर सको भगवन् दे दो शैशव साकार!

क्षण भर के लिए क्षात्र-तेज और ब्राह्म धर्म परस्पर संघर्ष करते हुए दिखलाई दिए, एक ओर शौर्य की प्रतीक भवानी तलवार रणचंडी के लिए आव्हान कर रही थी दूसरी ओर वीणापाणि माई शारदा अपनी लेखनी उसे थमाना चाहती थी, जीवन के लाखों प्रलोभन भी चतुर प्रवंचक की भाँति सच्चे झूठे को एक कर सामने खड़े हो गये, अपना अपना माल दिखा उसे खरीदने का आग्रह उस से करने लगे। वह सोच में पड़ गया, मनोहर याचक सामने है, कैसे उसे फिरा दूं, यह 'भोला मन, है कैसे बच पायेगा, सच्चे झूठे एक बने खड़े हैं, कैसे उन्हें पहिचानेगा—

लाख प्रलोभन यह भोला मन बच कैसे जाए ?
सच्चे झूठे एक बन खड़े जान किसे पाए !
हाट लगी है इसे लूटने, सब इस को तकते !
अपना-अपना माल दिखा कर लेने को कहते !
चतुर प्रवंचक, मन यह बालक, बच कैसे जाए ?
लाख प्रलोभन, यह भोला मन बच कैसे जाए ?
देख एक मृदु कुसुम धरा पर, कितनी पवमें आईं !
एक शिशिर कण पीने, कितनी नव किरणें ललचाईं ?
देख मनोहर याचक आगे, कैसे उसे फिराए
लाख प्रलोभन यह भोला मन बच कैसे जाए ?

हृदय उसे लेखनी की ओर बढ़ाता है तो गरजता इतिहास धमकी देता तुम ने यह भूल की जो तलवार छोड़ कर लेखनी पकड़ी अब तुम कहीं के नहीं रहे ! वह अपने आत्म-गौरव में ही गरजते

समुद्रों को समेट लेता है, सरस्वती उस के माथे पर अपना हाथ रखती है और वह भवानी के शौर्य्य को लेखनी की निर्झरी में धो, अपनी बाँह को लक्ष्य कर कहता है, हे 'मेरी बाँह!'

शौर्य का तो भूल पकड़ा लेखनी,
किन्तु तुझ से तो सफलता दूर है।
छोड़ करके विषम पथ फिर जा वहीं,
व्यर्थ मेरी बाहु बनती शूर है।
आत्म गौरव जाति का उत्थान है,
आत्मबल ही देश अक्षय प्राण है।
किन्तु गौरव? छोड़ जब मुझको चला,
आत्मबल का तो कहो क्यों त्राण है?
थी कसक मेरे हृदय के बीच में,
थी निरी वह कल्पना-सी जगत में।
देश-पीड़ा छोड़ कर के विरह की;
थी बनी रानी विकल हृद जगत में।
पूर्वजों के बाहुबल का भी कहाँ,
हो सकेगा कब मुझे अभिमान नव!
बस विरह की एक पीड़ा से भरा,
शौर्य्य शून्य: सुप्त है यह हृदय भव।
पास मेरे कुंठिता करवाल है,
औ' नहीं उपयोग करना जानता।
हाय! तन्द्रा ले गई सब शूरता,

है अहा कितनी विषम अज्ञानता !
आज खो कर प्रेम औ वीरत्व सब,
सभ्यता के फेर में हूँ पड़ गया।
हाय ! अब मैं क्या करूँगा विवश हूँ !
सुप्त आया था वही फिर रह गया,
बाहु अब तुम यह फड़कना छोड़ दो,
लुप्त सब है हो गई शुभ शूरता।
इस तिमिर पश्चात प्रातः काल में,
प्रस्फुटित होगी कमल माधुर्यता !
पूर्व पुरुषों पर हृदय अभिमान कर,
आत्म गौरव-मुकुल को कर सिंचिता !
आह दैशिक पुष्प उस में दो लगा,
देख लो खिल जायगी उन्नति-लता !

और अपने नन्हे कोमल हाथों से 'जीवनोत्सर्ग' लिख, माता सरस्वती के चरणों पर सिर रख देता है—

जन-मन-तन-भू चिर संचित सुख,
वार-वार इन मृदु चरणों पर
पल्लव-वस्त्र, नग्न मुख-चितवन,
भाव केश, जग-उर-स्वर गुंजन,
सीमित जग-सुख-दुख की कड़ियाँ तोड़,
वार जीवन चरणों पर।
युग-युग मोहक शीतल मुख-छवि,

अंचल जड़ित तारक-शशि-रवि,
गिरि-आसीना, कला प्रवीना के
मोहक नूपुर मग पद पर।
जन-मन-तन-भू चिर संचित सुख,
वार-वार इन मृदु चरणों पर।
सुखद कल्पना सिक्त नयन-दल,
मोहित होता जल-थल प्रति पल,
स्नेह-दृष्टि पाने चितवन की
दौड़ अरे गिर उन चरणों पर,
उल्लंघित कर कूप व्याधि मय,
उस वीणा में शाश्वत स्वर-लय,
करने दौड़ छोड़ कंटक भय,
वार-वार जीवन चरणों पर,
शत-शत सुख, शत-सहस प्रलोभन,
देख नहीं तत्समाकार बन,
वार-वार जीवन चरणों पर,
जन-तन-मन-भू-चिर संचित सुख !

सौन्दर्य-प्रभा, रवि की दीप्त प्रभा, देव - कन्या कविता के मधुमय देश में प्रवेश पाते ही विपत्ति "विधुरा मुसकान" आँसू बहाने लगी—

अय विपत्ति-विधुरा मुसकान ! मधुर नंदन-तरु स्थित ओस !
निरखती हुई यौवन, यौवन कान्ति, समुत्पन्नित जीवन की भूल।

सुबद दृग-घन के सोकर तप्त। तप्त हृदय के उच्छ्वास वियोग।
पीत रवि की किरणों में मंजु। अश्रु कर दो सुख-दुख संयोग!

और एक दिन कहना ही पड़ा-'हाय कौन मैं? हृदय भरा क्यों यह इतनी आशा से? इस कुहरे को प्रेम हुआ क्यों रवि की दीप्त-प्रभा से?' रवि की दीप्त प्रभा से उस कुहरे को प्रेम हुआ था, इसीलिए उस सूरज मुखी ने अपनी आत्मा के दवारों पर जीवन नाथ का अवाहन किया---- हे प्रिय! 'समीरण रथ' पर आरूढ़ हो इस जीवन में आओ---

समीरण रथ पर हो आरूढ़, विटप किसलय चुम्बन कर नाथ,
चपल नेत्रों से लख संसार, करूं आवाहन उतरो नाथ।
कभी स्मृति में होता स्वप्न, जन्म नव जीवन हास-विलास,
होता सुख है हर्ष अपार हृदय में भरता हास हुलास।
देख लो प्राची में छवि व्योम स्वर्ण वस्त्रों की झलक विमुग्ध
देव आओगे मेरे पास आज देखूंगा छविको स्निग्ध?

अलिन्द सम उस की 'गूंज' दिगन्त में फैलने लगी

गूंज उठी अम्बर में वह ध्वनि?

क्षितिज पार कुछ श्लक्ष्ण स्वर से, मंद-मंद मारुत स्वर भर के
दीप्त वधू मुख सुख लेकर के गूंज उठी अम्बर में वह ध्वनि,
लोल ललक लघु लोल चरण धर, कान्त हृदय में नूतन पद धर,
पंचम श्यामा स्वर लज्जित कर, गूंज उठी अम्बर में वह ध्वनि?
सखि ध्वनि सुन्दर थी, स्वर नूतन, अहा ललक पड़ता था प्रिय मन
खिलता था मेरा हृदय-विपिन तभी मरी अम्बर में वह ध्वनि!

पिघल-पिघल कर घुलने वाली वह ओस पवन स्पर्श से कंपित, पुष्पों

के गात छूके, झरते झरते मिटने वाली 'व्याकुल बरसात' बन गई--

विकल विकल बन फिरती हूँ, पिघल-पिघल मैं घुलती हूँ !
पवन-स्पर्श से कंपित हो, मैं आहें भर जलती हूँ।
रोती छू पुष्पों का गान, मैं व्याकुलता की बरसात।
झरते झरते मिटती हूँ, विकल विकल बन फिरती हूँ।

उसे लगने लगा जैसे अनंत मेघ, मधुर बसंत, असीम वारिधि, तरल समीर, ज्योति आदि कोई भी उसकी व्याकुल आह की थाह नहीं पा सकते! यह "व्याकुल आह" है---

अरे यह व्याकुल उर की आह, कौन पा सकता इसकी थाह।
पिघल जाते ये मेघ अनंत, गीत गाता है मधुर बसन्त।
उछल पड़ती वारिधि की श्वास, समीरण है लेता निश्वास।
किन्तु मिटती है कब यह दाह? कौन पा सकता इस की थाह।
ज्योत्स्ना भी हो जाती मूक, प्रकृति छबि के हो जाते टूक,
विश्व भी बन जाता विकराल, बुझाने को इस हृद की ज्वाल,
भूल जाते वे भी हैं राह, कौन पा सकता इसकी थाह ?

लोग कहते वह नित्य प्रति गीत गाता है किन्तु उस की पीड़ा की समाधि से एक कसक भर आती। उस की आशाकली किसी निर्मोही ने मत्त हो कुचल डाली। अब तो पीड़ा में भी 'उत्पीड़न' है---

उत्पीड़न पीड़ा में भी, क्यों आज हृदय है रोता ?
वह सुख भी स्वप्न सदृश था, हा नयन कोर से अद्भुत !
यह कली हमारी किस ने कुचली? यह पीड़ा भी क्यों ?
थे कभी बिखेरे मोती, अब गृह-गृह के हैं क्षीण दिये !

आती है एक कसक-सी पीड़ा समाधि से मेरी !
मैं आज घुला जाता हूँ पर बना हुआ मद माता
स्मृति है पलकों पर बसती, आँसू की सरिता बहती !
क्रोधान्ध मत्त हो कुचलो, निर्मोही ने यों मसली,
हँस-हँस कर नयन नचा कर, वे लेते हैं आहें भर,
गुंजित निकलेगा आहें, जग में यह सुख को लावे !

प्रयसि के आने तक जीवन गीतों का लेखा अमिट नहीं रह सकता अतु स्वयं ही उस 'मानिनि रेखा' तक पहुँचना होगा—

प्रिय स्पर्श तन का करते ही, हँसता था हृदय सौ-सौ बार,
इस उत्कंठामय जीवन की, स्वर्णालंकृत सतत सुख-सार,
प्रियतम से कुछ द्युति पा कर के, रक्त श्वेतता भव्य विलास।
चमकी थी मैं बादल रेखा, भर भर पलकों में मृदु लास,
किस सुहागिनी के सुहाग हो? जाती कहाँ कल्पना मूर्ति ?
जनी के इस अंधकार में, कौन अरे उज्ज्वलता पूर्ति ?
भामिनि अब तक आलोकित था, जीर्ण सदन लख दीप्त प्रकाश,
घार तिमिर मय यह मसान है, अंधकार का भामिनि वास,
प्रेयसि तेरे आने तक क्या, अमिट रहेगा भी यह लेखा ?
ठहरो मुझ को ही आने दो, प्रिय विलासिनी मानिनि रेखा !

दारुण अवसाद पा-पाकर जीवन तो मिट ही जावेगा पर पत्थरों पर गिरी हुई अविरल नयन धारा आहों में संचित सुन्दरतम गीतों की अक्षय याद रक्खेगी, ये 'मेरे गीत' हैं

हर्षोल्लास कौन कहता है? सर्व नाश का आमंत्रण?

तन तो स्वस्थ किन्तु इस हृद में हा ! कितने हैं दारुण व्रण !
कहते हैं सब लोग गीत गाता हूँ नित्य प्रति,
दारुण दुख से निकली आहें, केवल आह ! नहीं छंद-गति,
गाऊँगा क्या? लिखूंगा क्या, करता जब मैं देव ! प्रयास,
आती शृंखलाएँ, लेखनी जाती छूट, जाता लास,
आहों में रहे संचित हो मेरे सब सुंदरतम गीत,
कैसे तुम तक पहुँच सकेंगे, आगे खड़ी अविचल यह भीत !
मिट जाऊंगा मैं यों ही पा-पा कर वही दारुण अवसाद
पत्थर तो रखेंगे जग में, मेरे तन की अक्षय याद !'

कवि के सुंदरतम गीत उस की आहों में सचित हैं किन्तु सुन्दरता ने उस की कल्पना में हिम से अपना महल बनाया है। स्वर्ग सुंदर हिमालय की गोद में नर्तन करती रितुओं के बीच उज्जवल हस हँस कर झरते झरनों, उन्मादिनी नदियों, रंग-बिरंगे पक्षियों और अकृतिम प्रेम वाले सरल हृदय मानवों के बीच उस के सौन्दर्य के स्वर कररी के आत्म क्रंदन करने वाले करुण जीवन सहचर बन गये हैं, इसी से गुंजित यौवन के सदेशों को मौन भाषा अपने यौवन की पहली रात में चातकिनी रानी के भावों में सुन बहकहने लगता है— मेरा 'तरसता मन' है

तरसता हुआ हा सुखोंके लिए,मन अशन के बिना हाय कैसे जिए?
करेगा क्या वह भी नव गान? हृदय जिस का है रे श्मशान।
सारे विभव बस सब सुखों का हो चुका अवसान!
हँसेंगे नहीं अधर दल म्लान,

तरसता हुआ हा सुखोंके लिए,मन अशनके विना हाय कैसे जिए?

प्रात की शिशु मेदिनी की भाँति 'झल मल' करती हुई उस की रानी उस की भाव प्रवण कल्पना में सजीव होने लगती है—

अपने ही भावों में बहती छल छल
सरिता की तरल लहर-सी,
डब डबाई प्रेयसि की आँख-सी,
प्रात की शिशु मेदिनी-सी, कर रही झलमल !

वह जैसे अपनी सखी से हृदय की वेदना व्यक्त कर रही हो वह 'चातकिन'

उन्मन मन सजनी,
तरल हास में छिपी हुई, बिजुली की-सी पीड़ा अपनी,
सजी प्यार ले कर आई, सावन की काली रजनी।
फुहियाँ बरसीं, किन्तु रही मैं बस प्यासी ही सजनी,
एक चातकिन मैं सजनी, उन्मन मन सजनी !

उस का बनमाली उस के फूलों की डाली को धीरे से चुम्बित कर, उस से सरस राग खेल कर चला गया। उस के मन की सिहरन तड़पन का कोई अंत नहीं। वह पूछने की नहीं, अनुभव करने की दशा है, मन की 'सिहरन' है

धीरे से चुम्बित करके मेरे फूलों की डाली,
री चला गया बन माली, री सरस राग खेल कर,
कैसी मैं ने यौवन की वह पहिली रात बिताई,
मत पूछो मेरे भाई तड़पन सिहरन यह मन की।

जीवन-तम-किरण-प्राण-धन को छोड़ कर, वह किसे 'चिन्तन छीजन' सुनावे।

तुम जीवन तम-किरण प्राण-धन! प्राण प्राण जीवन के जीवन।
गान प्राण गुण गाते गुन-गुन, अधर दशन कर तेरा कीर्तन,
तुम बिन नाथ भार है जीवन! किसे सुनाऊँ चिन्तन-छीजन?
रुदन छोड़ कर तुम्हें प्राण-धन, स्मृति के हे आधार परमतम,
धैर्य्य धर हे सहचर उत्तम, कहाँ कहो किस निर्जन में है
मानस-शान्ति-निकेतन? जहाँ नहीं सुख-दुख का नर्तन
जन्म मरण औ चिन्तन छीजन! मानस का आलोक जहाँ पर
आलोकित करता अन्तस्तल, जहाँ स्निग्ध प्रभा में प्रतिपल
तन-मन होता धुल-धुल उज्वल! नाथ विकल हो उठा देख कर
यह व्याकुल जग-जीवन, मेरे—तेरे का यह क्रन्दन
प्रभु नश्वर लघु जीवन यौवन, तुम जीवन-तम-किरण-प्राणधन।

स्नेह--मार्ग की योगिनी अपनी इच्छा को अपने प्रिय 'नील कंठ' के सम्मुख व्यक्त करती है----

बैठे रहो उच्च गिरि पर प्रिय, तुंग शृंग पर भावोज्वल रवि,
पद-तल पर मैं सतत देख छवि, वारूँ तन मन तव छवि पर प्रिय
स्नेह दान पा शुभ लोचन पथ चलते ये लोचन ले कर रथ
हो जाओ आसीन यहीं प्रिय! मुझे कष्ट में लख करुणा कर
करुण दृष्टि से मुझ को लख कर, मेरा जन्म सफल कर दो प्रिय
तन स्पर्श से दूर रहो पर लोचन पथ में रहो निकटतर
इच्छा यही सतत मेरी प्रिय, स्नेह मार्ग की मैं हूँ योगिन

तमसावृत है यह निर्जन बन, रूठ न उठना उस गिरि से प्रिय!

हृदय में विद्यमान, प्राणों में घुला मिला रूप, लोचन पथ से दूर रहे इस से अधिक रहस्यमयी निष्ठुरता और क्या होगी--जानने पर भी 'प्रिय, अजान बने' हैं।

रे प्राणों में घन गया रूप! तृष्णा उठती रह रह अनूप!
मेरे नयनों में विद्यमान, मुझ से रहते फिर भी अजान
निष्ठुरता क्या है इस समान! मेरे नयनों में विद्यमान
मैं रोती हूँ जब फूट-फूट, रहता होगा वह कौन झूठ!
कितनी हो जाती हूँ मलीन, जग के सम्मुख मैं दीन-हीन।
तुम में रहता मन किन्तु लीन! जग के सम्मुख दीन-हीन।
ठुकराओ मुझ को नित्य क्रूर, कैसे जाऊँ मैं नाथ दूर,

इस से अधिक दंशन क्या होगा! कैसे यह दंशन सहा जाय? जो रोम-रोम में रमा है वही जीवन-तम-किरण--प्राण--घन साकार हो नहीं पा रहा है। घन-जल नयनों में छा आत्म-सूर्य को ढकले! पर स्मृति तो कण-कण में छाई है वही आँसू बरसा दृष्टि को उज्ज्वल कर देगी। वह स्मृति ही जीवन-प्रकाश है। पाप-घनों के, जीवन-नभ में छा जाने से यदि दरस-वंचिता यह आत्मा हो जाती है तो पश्चाताप के आँसू उसे धो डालेंगे। विरह की अग्नि में मन के मैल विकार भस्म हो जायेंगे "ये प्राण" इसी पथ पर हैं—

यह हृदय जलाया जाता है, आँसू बरसाये जाते हैं
दिल में नित धड़कन होती है, ये प्राण निकलते जाते हैं,

पर हे भगवान! क्या तुम भी यही चाहते हो हृदय जलता रहे

आँसू बरसते रहें और ऐसा करते करते ही तन से प्राण निकलें ? 'चाहते तुम भी' यही हो ?

चाहते तुम भी भगवान, हृदय-जलन औ अश्रु समान,
दिल में धड़कन रहने पर भी, तन से निकलें मेरे प्राण ?

समाज तो जन-जीवन का उपहास करता है आत्मोन्नति-पथ के लिए विघ्नमात्र है इसीलिए यह 'कंटक समाज' कहलाने योग्य है—

कंटक समाज तू विघ्न मात्र, सब जग जन तव उपहास पात्र !
तू गर्व-सुरा पी मतवाला, गूंथ दुर्गुणों की नित माला'
कर्तव्य बनाता रंग शाला, सिहरा रोता यह सकल गात्र !
कंटक पूर्ण विकल उन्नति-पथ, खड़ा भग्न तू है वाहन-रथ,
ले जावे हम को किधर जीर्ण ? उन्नति-मंदिर के हास्य पात्र !

हे नाथ यदि जीवन में मृत्यु ही 'ध्रुव सत्य' है यदि 'मरण से रक्षा' नहीं हो सकती—

पूजे देवी देवता बहुत से, देखे सभी तीर्थ भी !
भागे ये पद, जब कि शत्रु सेना ने मातृ-भू भ्रष्ट की
माँगी भिक्षा, देख नीच जन को की कंपिता पूंछ भी,
क्या क्या हाय नहीं किया मरण से रक्षा न पर हो सकी'

तो मेरी भी एक प्रार्थना है इसे स्वीकार कर लेना, मैं शांति से मर सकूंगा मेरी 'आकांक्षा' है—

जब उद्घाटित करती हों ये साँसे मृत्युद्वार !
चिरविछुड़न का मंद-मंद स्वर सुन पड़ता हो जीवन तट पर,
पत झड़ पल्लव का-सा ममर

शिथिल प्राण हों, आतुर हो मन, रुद्ध कंठ हो, व्याकुल लोचन,
स्मृतियों के छोटे छोटे कण
आ बुझ जाते हों प्रतिवार, मुझे क्षमा आ कर देना
चुम्बन, कर प्रिय अन्तिम बार !

आज तो मेरे नयनों से 'घन जल' बरस रहा है—

घन नयनों में बरस रहा जल, मूँद नयन तब मानस पल-पल,
रवि-सा है अदृश्य तुम्हारा इस दुख मय सावन में आना,
पर प्रकाश-सदृश तुम्हारी सुस्मृति का कण-कण में छाना !
नयन अश्रुमय, पुलकित अंग-अंग, निश्चय मुझे नाथ तुम आये,
दरस वंचिता मैं हारी हूँ, नाथ ! पाप-घन नभ में छाये।
तुम मुझ में हो, मैं तुम में हूँ, सभी-जानती हूँ जीवन-धन !
पर साकार नहीं तुम प्रिय धन, कैसे सहूँ नाथ यह दंशन !

और मैं कह रही हूँ—'देव ! रहो'

देव रहो प्रतिमा हो कर ही, पद-रज से तो खूब करूँ आलिंगन।
रजत-दुकूल एक पाटाम्बर छा कर दब जाते धरणी पर,
पथ-पथ सीकर से बन मुघुकर, गुंजित कर दूँ अपना नाद !

समझ रही हूँ—'अनंत जीवन' है

जग लघ है अनंत जीवन, जीवन है अनंत यौवन !
मिथ्या और काल, लय होंगे चिर मेरी सत्य नदी के उर पर।
अंधकार तम नहीं रहेगा मेरी ज्योति-किरण को छू कर !
परमानंद पूर्ण है जीवन, जीवन है अनंत यौवन !

देख रही हूँ—'कैसा आनंद' है !

यह कैसा जीवन आनन्द !
तुम आराध्य देवि जीवन की, भग्न-सदन की मृदु प्रतिमा थी,
अहो कुमुदिनी-वल्लभ चंद, यह कैसा जीवन आनंद ?
भक्ति भाव से लाया कलिका, जान उन्हें सुख-सोत विमल का,
तुम ने ठुकराये कह मंद, यह कैसा जीवन आनंद !
मैं ने वचन हृदय में गुथ कर, टूटी फूटी वीणा ले कर
गाया रोकर निष्ठुर मंद, यह कैसा जीवन आनंद !
हिलते तरु पल्लव मुख सुंदर, दुहराते थे यह मेरा स्वर
छिप सुनते तुम अपना छंद, यह कैसा जीवन आनंद।

मेरी अमिट लालसाओं का 'मधु कोष' जीवनोत्सर्ग चाहता है ! इसे किस पर न्यौछावर करदूँ ?

कमलिनी के पराग का कोश !
संचित है सब राग वहीं पर, मौन हृदय अनुराग वहीं पर,
और सरस आनन्द वहीं पर, वह छोटा-सा मधुर मधु कोश !
किस पर कर दूं वह न्यौछावर ?
किस का कर दूं मैं चुम्बित कर ?
कहो कौन वह प्रियतम जीवन ?
अमिट लालसा भरा यह कोश !

देव ! जीवन पर्यन्त तुम्हारी हृदय-प्रतिमा, माता सरस्वती के चरणों में ही यह मधु कोष रहे ! अनंत यौवन इस लघु जग की रूप रेखाओं में परमानंद पूर्ण सौन्दर्य बन गया है। वही सौन्दर्य मेरे प्राणों में घुला हुआ है उस मधुर रूप का यह 'हृदय-प्रहरी' है—

यह कैसा रूप मधुर प्रिय री ? बना हृदय प्रहरी !
प्रिय आगमन काल की सुंदर, शरच्चन्द्रिका-री !
छिद्र-छिद्र से प्रकटित होती, हँस-हँस आभा-सी
वह विभावरी की सुन्दर-सी, ध्वनिमय लहरी !

और किरणों की-सी मधुर सुखमय रेखा 'मानस-प्रतिमा' बन अपना लेखा हृदय में लिख रही है—

ओ सर्वस्व हृदय की प्रतिमा, प्रिया मधुर सुखमय रेखा !
लिखो-लिखो इस शून्य हृदय में किरणों की-सी मधुलेखा,
स्पंदित कर दो निश्चल काया, फैला दो नीरव छाया,
ओ सर्वस्व हृदय की प्रतिमा, प्रिया मधुर सुखमय रेखा !

प्राण उसे न देखने पर भी पहिचानते हैं, न छूने पर भी जानते हैं, न सुनने पर भी सुनते हैं, उन में रहने वाली प्राण--छाया सुन्दर है, पावन सुन्दर, विश्वासी का यही विश्वास होता है—

मैं ने न कभी देखा तुम को, पर प्राण तुम्हारी ही छाया।
जो रहती है मेरे उर में, वह सुंदर है पावन सुन्दर !
मैं ने न सुना कहते तुम को, पर मेरे पूजा करने पर
जो वाणी-सुधा बरसती है, वह सुंदर है पावन सुंदर !
मैं उन स्पर्शों की क्या जानूँ ? पर मेरी गीली पलकों पर,
जो मृदुल हथेली फिरती है, वह सुंदर है पावन सुंदर !

उस की आत्मा अपनी आँखों में नीर भरे रहती है। उस के मौन अधर उस की व्यथा मौन व्यथा की कहानी कहते हैं—'मेरे प्रिय !'

मेरे प्रिय का सब ही अभिनंदन करते हैं,
मेरे प्रिय को सब ही-प्रिय, सुंदर कहते हैं।
मैं लज्जा से अरुण, गर्व से भर जाती हूँ,
मेरे प्रिय सुन्दर शशि से मृदु मृदु हँसते है।
वे जब आते, लोग प्रतीक्षा करते रहते हैं
जा चुकने पर कथा उन्ही की सब कहते हैं,
मेरे गृह पर वे प्रवेश पाने की विनती बहुत—
समय तक कर चुपचाप खड़े रहते हैं,
मेरे प्रिय वसन्त से फूलों को लाते हैं,
लोग उन्हें लख, भौंरों से गुंजन गाते हैं,
वे उन सब को भूल कुंज पर मेरी आते,
मेरे फूल न लेने पर प्रिय अकुलाते हैं।
वे जब होते मेरे पास न कुछ भी कहती हूँ,
वे जब छूते स्पर्श न मैं उन के सहती हूँ,
हो निराश जब वे शशि-से आहें भर जाते,
मैं अपनी आँखों में नीर भरे रहती हूँ!

मिलन सुख की कल्पना-जनित भावानुभूति उसे उन्माद दशा में ले जाती है और वह अपनी इस अकथ गाथा में लीन हो प्रकंपाश्रुओं को बहाती हुई भाव-विभोर हो गाने लगी है—उसे 'मिलनोन्माद' हो गया है—

पग कोस हुआ, गति मंद हुई,
मैं चल न सकी सखि चल न सकी!

श्वासों से दोलित वक्ष हुआ,
नत नेत्र हुए पद लक्ष्य हुआ,
शशि-सम्मुख चलती रजनी-सी,
मैं छिप न सकी सखि छिप न सकी,
आभा की पीत प्रभा, गिरि पर,
सूनी कुंजें सब तममयि कर,
खिलने को कहती थी मुझ को,
मैं खिल न सकी सखि खुल न सकी।
गिरि-गृह से बाहर आ सजनी,
वह रूप प्रभा छिटका अपनी,
स्थित हो थे देख रहे मुझ को,
लज्जावनता सखि चल न सकी।

जिस "मंजु रूप" को देखकर उस का मन अलिन्द सम धाया वही उस के लिये सब कुछ है—

देख रूप प्रिय मंजु तुम्हारा, मन अलिन्द सम धाया,
कविता में है वास तुम्हारा, कवि मन में डेरा डाला,
लख-लख तेरा तन मृदु प्यारा, मन बनता मतवाला,
पवन मंद में घुल-घुल प्यारे, सुरभि बने अति न्यारे,
सरिता-सर में गोरे—काले, रहते हो मतवाले।
निर्धन के धन, श्याम तुम्ही हो, मन बनता मतवाला,
अबला के बल नाथ तुम्ही हो, मन में फंदा डाला।
राम-श्याम-ईश्वर तुम हो हो, कैसा अलख निराला

संसृति-सागर-सेतु तुम्ही हो, तुम ने डेरा डाला,
रूप मंजु को देख तुम्हारा, मन बनता मतवाला।

उसी को अपनेपन के भरोसे "उपालंभ" दिया जा सकता है—

तुम प्रभात बन कर आये थे मुझसे नाथ खेलने होली,
मैं रजनी बन,नाथ! छिप गई लिए हुए रंगों की झोली!
तुम रितु-पति बन जगा गये बन के मृदु-द्रुम-दल पात,
कुसुम-हीन पादप बन कर मैं रही छिपाए अपना गात!
तुम निदाघ में बन मरीचि प्रिय, स्रवित कर गये दल नीहार
मैं पत्थर बन बूँद बूँद से लिखती थी नव प्यार!
सावन में घन बन आए तुम, लिए हुए घन अंधकार
मैं बिजली बन समा गई आलोकित कर संसार!
मुझे प्यार करने आते तुम, मैं जाती हूँ तुम से दूर
पहले पहल तुम्हींने मुझको सिखलाया पर होना क्रूर!

और उसी की 'प्रतिमा' से अपनी व्यथा व्यक्त की जा सकती है----

प्रतिमे! अब तो थोड़ा पसीज!

सहने पड़ते क्या घात-वात! मेरे उपास्य तुम को न ज्ञात
होगा क्या मेरा दुःख भार! हे देव आज तुम प्रथम बार
बो लो इस भू में बचन बीज, प्रतिमे अब तो थोड़ा पसीज!
अब शुष्क हो गई प्रकृति गोद, हैं चले गये हा! सभी मोद!
है दूर गया अब वह बसंत! उसके नृत्यों का हुआ अन्त,
विकल-प्राण-तन-मन छीज-छीज, प्रतिमे अब तो थोड़ा पसीज
सुन कर भी मैं पिकी कूक, अब तक थी रहती बनी मूक,

पर अब आई हूँ कर सिंगार, तन तृप्त करो प्रिय प्रथमबार
आनंद मग्न है आर्द्र खीभ, प्रतिमे अब तो थोड़ा पसीज !

उसी को अपना दीन रुदन सुनाया जा सकता है----उसको 'तमसा वृत्त हार' अर्पित किया जा सकता है--

इस लघु जीवन का सेवा था एक मात्र सत्कार्य !
मिलन प्रतीक्षा क्षण भर ही थी, सेवा थी अनिवार्य !
देव! हृदय से सेवा करली, रो लूँ अब जी खोल !
एक आश लघु जीवन की अब मुक्ता लहरी लोल !
व्यथा, व्यथामय इस जीवन की, पृथ्वी भार स्वरूप!
हुई कभी क्या तव पद पूजन के भी थी अनुरूप ?
हाय ! नहीं!! पर, प्राण-धन! तुम मेरे अक्षय शृङ्गार!
रहने दो, धारण तुम कर लो यह तमसावृत हार !

अपने जिस अक्षय शृङ्गार को .... तमसावृत हार भी अर्पित कर सकती है वह मन-मोर जब दृष्टि-पथ में आ जाता है तब पृथ्वी के भार स्वरूप लगने पर भी छवि-छोर को देख लेने से नयन कोर भीग जाती है और चेतना प्रति क्षण 'आकुल प्रतीक्षा' का रूप ले लेती है----

तुम्हारा विस्तृत सज्जित प्रांगण, देखती हूँ शैशव में मुग्ध ,
चपलता से होकर विश्रान्त, तरल-यौवन बन पा विश्राम,
वहीं होती रहती हूँ क्लान्त, देख-देख हिल्लोलित प्रांगण,
उधर निर्जन अश्रान्त की ओर, निरखती हूँ जब मैं छबि छोर,
दृष्टि-पथ में आता मन-मोर, भीगती इन नयनों की कोर,

विश्व-पति लखती शुभ्र कण-कण, हृदय में आता जब आनंद,
दीप हो जाता है मंद, और आ करके वायु हिलोर,
देखती है मुझ को सानंद, बनी प्रतीक्षा आकुल प्रतिक्षण !

विद्युत-सा पीड़ा-प्रवाह रोका ही नहीं जाता। उस की आकुल बरसाती पीड़ा जाग उठती है और धूमिल संध्या स्मृति के उत्ताल तरंगों में बहने के अलावा कोई भी दूसरी राह नहीं रह जाती—

भर आती आँखें,
हाय जैसे किसी ने छेड़ दी हो सोई तंत्री,
केवल कौतूहल कारण, वह कसक कहानी,
अधरों में आ जाती, कह पड़ती मैं दीवानी,
रोकना चाहती हूँ किन्तु नहीं रोका जाता !
यह विद्युत-प्रवाह, उमड़ पड़ता है, देता दाह,
मूक-सी बनी चुपचाप, ढूँढती हूँ इस उर में शाप,
कितना उन का अनुराग !
वह आकुल बरसाती पीड़ा उठती है जाग,
इस धूमिल संध्या में,
मुँदा हुआ उत्पल-सा मन, याद करता हैं मातृ-चुम्बन,
वह हिमगिरि इंगित, भर आती आँखें हो जाता हृदय रिक्त,
माता तुम्हारे पाद-पद्मों से दूर-दूर आ पड़ी हूँ,
दीप जलाने की सुधि न रहती,
संध्ये ! तेरी इन तरंगों में, उत्ताल तरंगों में
मैं स्मृति में ही हूँ बहती !

घर से दूर, माता के देश से दूर होने से उसे अपनी जन्म--भूमि की याद सताती है उसे 'खुद' लगने लगती है और 'माँ का दुलार' स्मृति के आँसू बन उमड़ पड़ता है—

माँ का दुलार, वह सरस सहज सुधामय प्यार !
आज बालिका छोड़ दिया तू ने वह हार,
कंटकों के ढिग आ चुपचाप,
बढ़ी ज्यों ही लेने वह फूल ,हुआ दारुण मृदु तन में शूल,
नियति का कैसा अकरुण शाप
हाँ यह शूल का दंशन सहा, 'हाय माँ !' बस यह ही कहा !
कंटकों से छिद गया शरीर, इस जगह पर बसते वे पीर !
देवि ! सदा, घर में बहती है सतत दया की धार,
देवि चुनने को कुसुम प्रिय के लिए,
बहुत सहनी हाय यह होगी व्यथा,
किन्तु सह कर कष्ट क्या होगा मिलन ?
हाय रोना ? री अरी यह ही कथा !

अश्रुओं को ही झर-झर कर वे घाव भरने होंगे जो, हाथों में खून बहाते कंटकों के कसकने और हृदय में तीखे शायकों के चुभने से सजग हो जाते हैं। पग-पग पर 'दंशन' आते हैं पर यह जीवन मिटता नहीं—

पग-पग पर दंशन ! पर न मिटेगा यह जीवन !
जब जब कसकेंगे हाथों में खून बहाते कंटक !
जब-जब हाय चुभेंगे उर में तीखे—तीखे शायक,

बहा अश्रु तब तब तुझ को रे, भरने होंगे वे व्रण
पग-पग पर दंशन ! पर न मिटेगा यह जीवन !

'मरण भी जब' नहीं आता तब चुपचाप एकान्त में आँसू ही बहाये जा सकते हैं—

मरण भी जब नहीं आता
शुष्क पल्लव को उड़ाने पवन भी जब नहीं आता
शुष्क तरु को जलाने दहन भी जब नहीं आता।

किन्तु कोमलता तब भी हृदय में प्रिय का स्मरण करती है, तब भी उस की सदेच्छा स्वजन की मंगल कामना करती है। उस का 'छलकता यौवन' है—

पागल उसे न करना, मेरे ही जैसा उन्मन !
पवन ही बन कर न कहलाना मेरा उच्छ्वास !
छलकता है उस का यौवन,
भ्रमर प्राणों में बन गुंजन !

किन्तु अपनी 'हृदय-सुरभि' को भी प्रिय तक पहुँचाने की चाह सहज ही जगती है—

सौरभ, पवन अरी लेजा तू दूर देश के अलि के पास !
कहना इस यौवन तरंग का होता है घुल घुल कर नाश,
अलि आये हो देख कर, क्यों लेते हो अब निश्वास ?
जीता रख न सकी जिस को, अब उसे जिलायेगा विश्वास !

प्रणयी--प्राणों की भाषा, मौन रह कर अधिक कहना जानती है। 'कूक भरी मूकता' को अपनी 'शिथिल आह' का घना विश्वास होता

है। 'स्वाति बूँद' के लिए ऐसे प्राण, चातक-चातकी बन असह्य व्यथा के क्षणों में प्रियतम का 'आवाहन' करने लगते हैं, 'हे प्रिय आओ'—

प्रियतम जीवन सुख धाओ! रागिनि चातकि गाती है
सिहर-सिहर वह भी जाती है, नृत्य दिखा कर दुख पाती है
दुख पाती प्रियतम आओ, प्रियतम जीवन सुख धाओ!
जहाँ विपिन मधु-मास खिला है, हृदयोन्मत्त उच्छ्वास मिला है
कंटक दुख पाता आओ, प्रियतम जीवन सुख धाओ!
कोयल कू कू कुहक रही है, इस उपवन की विकल कली है
आशा केवल एक रही है, प्रियतम आवें, हे प्रिय आओ!

प्रियतम के दूर चले जाने के साथ हँसने की आशा भी दूर चली जाती है, तब भी विकल श्रवणों में किसी का सुधामय सुख छाया रहता है और जीवन-समाधि से निकले निश्वासों में आशा कोयल की 'मौन भाषा' सुनाई देती है—

आ निश्वास जीवन-समाधि-पर मृदु कंठ से कोयल-सा
अपना स्वर बरसा-बरसा कर, देना हाँ मुझ को आशा!
किस का सुधामय छा रहा, इन विकल श्रवणों में सुख?
गई दूर हँसने की आशा, प्राण! मौन है तेरी भाषा!

जीवन-शशधर जब रोती लहरों पर शनैः-शनैः घुलता है, एक एक पग डग मग कर धरता है, प्राण अंतिम साँसें भरता है तब भी 'आशा नहीं' मरती—

वह क्यों रहता है बचा हुआ? जिसे छोड़ कर तुम जाती हो?

यह सोच कि शायद मौत मुझे लेने को जल्दी आती हो।

तब भी अपने प्राणों को कपूर की तरह उड़ता देख कर 'जीवन-शशि' पतझड़ के पीले पात को फूलों के मृदुल तम मधुमास के फिर से आने की चाह बनी रहती है--

पग पग धर, डग-मग कर, मेरा हो रहा क्षीण जीवन का शशधर!

उड़ता कपूर सदृश गिरि के शिखरों पर,
घुलता है शनैः-शनैः, रोती लहरों पर,
धरती पड़ रही पीत, पिघल रहा अम्बर
जीवन-शशि आज रहा अंतिम साँसे भर, पग-पग धर, डग मग कर

और वह चाह 'आकुल प्रश्न' के रूप में भी व्यक्त हो जाती है—

बंधु फिर होगा क्या मधु मास ? मृदुलतम फूलों का मधु-मास ?
यही पतझड़ का पीलापांत, हरा देखेगा क्या निज गात ?
हरी होगी क्या मेरी आश ? बंधु फिर होगा मधु मास ?

जीवन-चक्र भी ऋतुओं के अस्थिर नर्तन भाँतिकी बाहर भीतर एक रस चलता रहता है।

मेघ-मुक्ता

वर्षा की रितु ने भारत की प्रकृति में अपनी सुन्दरता से मानव-हृदय में सौन्दर्य-वेदना के एक से एक सुन्दर अध्याय जोड़े हैं। वैदिक कवि की कल्पनाओं को उस ने एक प्रकार की उत्तेजना दी है तो महा-काव्यों, मुक्त गीतियों और प्रबंध, अर्द्ध प्रबन्ध मुक्तकों को दूसरी प्रकार की। वाल्मीकि की रामायण, तुलसी के रामचरित--मानस, तुलसी की गीतावली, कालिदास के मेघदूत और रितु-संहार में वर्षा एक जैसे रूप में नहीं हैं, न सेनापति, भूषण, प्रसाद, पंत, निराला, गुरु भक्तसिंह, चन्द्रकुँवर और राजस्थान के कवियों की वर्षा में ही एक रूपता है, हिन्दी में वर्षा का कवि चन्द्रकुँवर के रूप में पाया है।

देश-देश के वेदना के अमर गायकों के चरण तल पर अपने दीर्घ दुःख की रजनियाँ बिताने वाले चन्द्रकुँवर के पथ-प्रदर्शक कालिदास रहे है, इस मलय-पवन ने उनके लिए सौन्दर्य के द्वार खोल दिये, उनके हृदय में पहिले भी सौन्दर्य के कुसुम विकसित होते थे किन्तु वे तुरन्त ही मुरझा जाते थे हिमालय का आधार .तम्भ पाकर, चन्द्रकुँवर जब कालिदास के बताए सौन्दर्य--पथ चले तो भवभूति ने अपनी करुणा का वरदान उन्हें दिया, हिमालय की प्रकृति, उस प्रकृति के आनंदी-निर्झरों और स्नेहमयी माता को शीतल गोद ने उन्हें शांति के स्वर दिये, बहिन ने उन्हें संगीत दिया, प्रेयसी ने वेदना और गौतम ने दुःख की

वरुणा, वाल्मीकि ने अरण्यानी सरलता और जीवन के अनुभवों ने व्यापकता, उन का काव्य इन सब से संपन्न हुआ, सबको उन्हों ने अपनी नदी में मिला दिया और अपने लिए अपनी काव्य मंदाकिनी के लिए विषमताओं के बीच भी स्वयं, राह ढूँढ ली—

(१)

मिलें मिलें मुझ में सरिताएँ, पर लहरें हों अपनी
देश-देश की हों सरिताएँ, पर लहरें हों अपनी,
देश-देश से आ-आकर के धाराएँ जीवन की,
लाएँ आशाएँ, भाषाएँ, गिरि-गिरि की बन-वन की,
मैं सब सुनूँ न बदले आशा, पर मेरे जीवन की।
पड़ें हृदय पर मेरे, शशि की, मेघों की छायाएँ
पर मेरे तल के मणि, अपनी बदलें नहीं प्रभाएँ।

(२)

मैं मर जाऊँगा पर मेरे जीवन का आनंद नहीं,
झर जावेंगे पत्र कुसुम तरु, पर मधु-प्राण वसंत नहीं,
सच है घन तम में खो जाते, सोत सुनहले दिन के,
पर प्राची से झरने वाली आशा का तो अन्त नहीं,

(३)

जिस आशा से निर्झर झरता, पीछे कभी न फिरता,
जिस आशा से सघन बरसता मेघ धरा पर गिरता,
जिस आशा से बीज धरा में छिप कर मिटता रहता,
उसी मधुर आशा से मैं भी निज जीवन को सहता,

(४)

कुछ झरनों को मिलती नदियाँ अपने ही आँगन में
कुछ निराश जीवन भर उनकी करते खोज भुवन में
सब बीजों का सफल न होता जीवन की बलि देना
नहीं चाहता हूँ मैं फिर भी निज साधना बदलना।

(५)

मेरी नदी स्वयं अपने पथ को खोजेगी,
यदि विलीन होना होगा उसको मरुओं में
वहीं जायगी वह, मेरी दुर्बल बाहों को—
देख न अपने मन के वेगों को रोकेगी,
यदि बहना होगा उसको फूलोंके बन में
मरु को अपने हाथों से सींच-सींच कर
वह सूखे पथ को भी फूलों से भर देगी।

(६)

बह रही मृत्यु के सागर में जीवन की छोटी सी तरणी।
आते नवीन दिन, नव रातें, पर बहती ही रहती तरणी।
लहरें भूखी हैं प्यासी हैं, वे मुझे घेर कर हँसती है,
जाने किस धुंधले सागर में वे इस तरणी को डसती है
पर अभी शान्त है कुटिल उदधि, हँसता प्रसन्न मुख आसमान
गाते हैं सुख से इसीलिए तरणी पर चिन्ता रहित प्राण!

७

मेरे आँसू जल से धुल-धुल आते हैं कविता के अक्षर'

मैं हूँ नश्वर हे बंधु, किन्तु मेरा विषाद है अजर अमर,
वह घाव कलेजे का भरता जो कभी नहीं उपचारों से
जिस को न विमुख कर सकता है ईश्वर भी मेरे द्वारों से
वह आग जलाता रहता है, मैं जलता रहता हूँ हँस-हँस कर
मैं हूँ नश्वर हे बंधु ! किन्तु मेरा विषाद है अजर अमर!

८

सोच मत कर ग्रीष्म को लख हे सदय भागीरथी !
दीन होगा क्यों हिमालय ? हे सदय भागीरथी।
पहुँच कर तट पर तुम्हारे निखिल जग की प्यास ले,
प्राण प्यासे ही न लौटेंगे कभी भागीरथी !
कर तुम्हारे पुण्य दर्शन छू तुम्हारे चरण पावन,
खो तुम्हीं में प्राण खोजेंगे निलय भागीरथी।
खो गई मरु--भूमि में जो आज प्यासी मिट रहीं,
सोच उन का भाग्य तुम पाओ न भय भागीरथी !

हिमालय से बल संचित करने वाली इस कवि की सदय भागीरथी, दुर्भाग्यों के प्रचण्ड ग्रीष्म-ताप में भी अपनी काव्य-मन्दाकिनी के लिए राह ढूँढती रही। अपने प्रेम के रस से उसे सिंचित करती रही। प्रेम के पार्थिव क्षेत्र में भी उस ने अपने हृदय के बट--बीज को एकान्त में सींचा, यह जानते हुए भी कि जिस दिन वह वृक्ष फल फलने लगा उस दिन तक उस का भौतिक जीवन ही समाप्त हो जावेगा----

१

विश्व-शिला पर हिम बन आता, जल बन जीवन बह जाता,
दुर्ग खड़ा हो बालू का-सा, क्षण भर ही में ढह जाता,
नील गगन में घटा सदृश वह धूम—धाम से है उठता,
और क्षणों में चिन्ह न उस का शेष कहीं भी रह जाता!

२

मानव के सुन्दर जीवन में पतझड़ बसंत दोनों
आशा की कोमल चितवन में, पतझड़ वसन्त दोनों।
हैं आज रूप का पार नहीं पग-पग पर भौंरे गूँज रहे
कल दीन हृदय को छोड़ गये, मृदु हास औ आँसू दोनों।

३

इच्छाओं का अन्त कहाँ है? कहाँ लोभ की सीमा?
बहती गर्जन कर तृष्णा की नदी भयंकर भीमा!

४

सुन्दरता ने महल बनाया हिम से अपना।

५

जग में यदि मन चाहती होती अपने हाथ।
कौन विधाता का कहो, देता फिर तो साथ!

६

मुझे कह दो क्या करूँ मैं? बता दो कैसे रहूँ मैं?
कौन वह जिस का भरोसा कर सकूँ मैं?
पदों पर जिस के हृदय को धर सकूँ मैं?

प्रेम को विश्वास को जो नहीं मारे,
कहाँ ऐसे स्नेह से बाहें भरूँ मैं ?

७

प्रेम का बिरवा फलेगा, सींचने को ही बने तुम !
और जो छाया करेंगे हृदय सेवन, वे न जाने इस समय होंगे कहाँ
और देखेंगे हमारे वृक्ष को जो
विहग गण के गान से मुखरित सुकुसुमित,
वे इसी के बीज से तम गर्भ में
कर रहे होंगे अचेतन हो शयन,
तुम अकेले सींचते हो जानते
वृक्ष में जब फल फलेंगे तुम न होगे
वृक्ष के घन मूल में जब तैरती होगी सुधा-सी घनी छाया !
उस समय ही आश मन की, यह तुम्हारी फल सकेगी !

८

कुछ दिनों में आज के सुख भी न होंगे,
और भी निष्ठुर पवन बन जायगी,
शुष्क वृन्तों पर सिसकते ये दुखी मुख भी न होंगे।
विश्व में कोई कहीं अपना न होगा
हाय! उर में सुख कहाँ! ये कसकते दुख भी न होंगे!
उड़ चलेंगी पीत किरणें लोचनों से
मृत्यु जब उर पर पड़ेगी शिशिर के ठिठुरे घनों से,
बचे रहने के लिए तब सुख कहाँ, यही दुख भी न होंगे।

९

शुष्क सरिता के किनारे, प्रेत-छाया घूमती !
चाँदनी में मंत्र पढ़ती फिर खुशी से झूमती !
पेड़ नीचे कौन से जादू बचन सुन तुम जगी ?
मंत्र मुग्धा, मंत्र विवशा,तुम किधर जाने लगी?

(१०)

फिर न स्वर को मंद करना !
कंटकों के दंश से भय भीत हो कर, चरण फिर पीछे न धरना !
मृत्यु का मुख देख कर के पीत हो कर, तुम अभय हो कर विचरन
कुटिल वक्रों के पथों से सूर्य सा अक्षत निकलना,
फिर न स्वर को मंद करना,

(११)

देख मुझ को विश्व में असहाय तुम ने कंटकों में गिर सिसकता,
था मुझे उर से लगाया, पोंछ कर मेरी व्यथा !
आज वह दिन आ गया पास ही तुम पर तुम्हें मैं खो गया ।
स्नेह वही ही प्राण-धन का, मैं सशंकित हो गया
सोच तुम खो जाओगे, हृदय, प्रिय असहाय हो कर रुदन करता

(१२)

विकंपित हो उठा कल रात के घन देख कर !
आज तक भी तो गगन में थे घिरे आषाढ़ के घन ।
आज तक भी तो उन्हों ने था किया उन्मत्त गर्जन!
क्यों कँपा मुझ को गई कल रात की खर तर पवन ?

(१३)

बाँह से मेरी लिपट कल भूल से,
रह गये प्रिय एक पल तुम फूल से !
मधुर हँसते इस हृदय के पास ही,
याद आई मुझे उस विश्वास की !
जो कभी था तुम्हें मेरी बाँह पर,
नयन मेरे भर चले औ' बाँह भी !
छोड़ तुम को गिरी वह फिर त्रस्त हो,
सुख बना दुख, विषम मेरी भूल से !

(१४)

मैं चला स्वर सुन नहीं पड़ते जहाँ, अब बुलाना मत मुझे,
मैं न लौटूँगा सुखी रह सीखना, अब भुलाना ही मुझे !
प्यार करना अब उसे जो है बचा, प्यार करना अब उसे !
धीर धरना, शान्त रहना, काटना इस विपद को प्यार से !

(१५)

आँसुओं के बीच मुझको तुम दृगों में क्यों धरे हो ?
जो न अब संसार में है पालते अब हा! उसे हो !
शशि, गगन, में जब न रहता, उदधि उसको भूल जाते
मर चुका जो फूल उस को क्यों न भू पर डाल देते !

(१६)

मर रहा हूँ बहुत दिन से, पर न मैं मर पा रहा हूँ !
काल का रिण साँस जग में भर नहीं मैं पा रहा हूँ !

जा रहे हैं लोग दुर्गम पर्वतों को लाँघ कर
हाथ मलता देखता हूँ मैं न कुछ कर पा रहा हूँ !

(१७)

चीर कर रख दूं हृदय, दुख हाय इतना है मुझे !
कह न सकते अश्रु आता रुदन कितना है मुझे !
अचानक यदि मरण होता, स्वर्ग-सा मिलता मुझे।
हाय तिल-तिल कर, तड़फ कर किन्तु मरना है मुझे।

(१८)

बिछुड़ तुम से हाय ! क्या क्या नहीं देखा !
इस हृदय ने हाय क्या क्या नहीं सीखा !
अन्ध था वह तम, बधिर वे वज्र थे,
कठिन थे वे शूल विष थे उबलते
न जाने कितने दिनों आ मृत्यु ने,
नखों से इस हृदय के फल को परेखा
बिछुड़ तुम से हाय ! क्या क्या नहीं देखा !
इस हृदय ने हाय क्या क्या नहीं सीखा।

(१८)

मैंने पुरुष का जन्म पाया, शाप यह मुझको मिला,
और तुम नारी बनी, विधि ने हमेशा भूल की।
मानवों के बीच में यदि, प्रेम करना पाप था,
क्यों बने हम तरु नहीं, नीले द्रुमों के बीच में ?
हम खिलाते फूल तन में, एक ही मधु के उदय से,

काँपते हम साथ प्रेयसि, एक ही शीतल पवन से।
एक ही शशि-मुख हमें, देता प्रणय की चाँदनी,
एक ही विहगी हमें, गाती प्रणय की रागिनी।
एक से ही स्वप्न सुख-दुख, एक से होते हमारे,
एक सी ही प्यास होती, एक ही सरिता किनारे।
ये बनों के मुक्त पंछी, मानवों से हैं सुखी,
ये प्रणय करके सुखी हैं, हम प्रणय करके दुखी।
तरु करा देते मिलन, इन का मनोहर पल्लवों में,
और हम होते तिरस्कृत, इस जगत के मानवों में।
पर जगत बलवान हो तुम, क्षुद्र प्रेमी प्राण हैं,
तुम सुखी हो रो रहे, पर अस्त प्रेमी प्राण हैं।

(१६)

'वह सुबह को घूमती थी, निज अनुज का हाथ ले',
शब्द ये शिशु ग्वाल के, मेरे हृदय में रह गये।
वह छिपा क्या देह पल्लव से मुझे लखती रही?
प्रेम-छाया-सी सदा वह, अनुसरण करती रही।
मैं लगा मृत पल्लवों में, चरण लाली खोजने,
मैं लगा पद चाप से, दूर्वा दबी कुछ देखने।
वह कहीं दीखी नहीं, फिर आश ही रोती रही,
सिसकियों में आह भरती, दूब भी रोती रही।
आश भी अब मर चुकी है, शून्य से हूँ मैं भरा,
गिर रहे हैं चन्द्र तारे, मिट रही है यह धरा,

क्यों दुखों के इन क्षणों में, याद आ ती अब मुझे,
वह सुबह को घूमती थी, निज अनुज का हाथ ले।

(२०)

अभी भी यदि आश कुछ होती !
शिशिर से टूट कर भू पर गिरे इस दीन पल्लव को,
हृदय से वृक्ष के लग कर, हवा के साथ हिलने की,
अभी भी यदि कुछ आश होती !
वधिक के हाथ से भू पर, गिरे इस दीन मृग-शिशु को,
मृगों के झुण्ड में जाकर, वनों के बीच फिरने की,
अभी भी यदि आश कुछ होती !
दुखों के भार के नीचे, सिसकते इस दुखी उर को,
किसी की गोद में जाकर, सुखी की भाँति मिटने की,
अभी भी यदि आश कुछ होती !

(२१)

तुम ने क्यों न कही मन की?

रहे बंधु तुम सदा पास ही, खोज तुम्हें निशि-दिन उदास ही,
देख, व्यथित हो लौट गई मैं, तुमने क्यों न कही मन की ?
तुम अन्तर में आग छिपाये, रहे दृष्टि पर शान्ति बिछाये,
मैं न भूल समझी जीवन की, तुम ने क्यों न कही मन की ?
खो मुझ को जब शून्य भवन में, तुम बैठे धर मुझे नयन में,
कर उदास रजनी यौवन की, कहते करुण कथा मन की !
मैं न सुधा लेकर हाथों में, आई उन सूनी रातों में,

स्मिति बन कर नव जीवन की, मैं बन रही व्यथा मन की ?
जग में मैं अब दूर जा चुकी, रो-रो निज दुख को भुला चुकी,
अब मैं विकल विवश बंधन में, कहते क्यों मुझसे मन की ?

(२२)

व्यक्त मैं यदि प्रेम करता, तुम्हें जीवन रुदन होता !
जब तुम्हारे वक्ष में मैं, किसी मधुमाती निशा में,
प्राण अपने छोड़ देता, तुम्हें जीवन रुदन होता।
वक्ष में अपने छिपाये, मैं रहा अपनी व्यथायें,
जान कर मुझको मरण, करेगा सत्वर हरण,
आग वह मेरे हृदय की, इसी से बाहर न झलकी।

(२३)

प्रेम जो करता उसे क्या भूल जाना चाहिए ?
जो पदों पर गिरा उस को क्या कुचलना चाहिए ?
हृदय जो देता उसे क्या घृणा देनी चाहिए ?
देख कर असहाय को क्या मार देना चाहिए ?

(२४)

दो दिनों की प्रीति थी वह और क्या,
भूल वह मुझ को गये अब और क्या?
गिर गये वे फूल, दीपक बुझ गये;
अब अँधेरा है हृदय में और क्या ?
अब न शशि को देख पायेंगे नयन;
शीश इतना झुक गया है और क्या ?

हँस न पायेंगे कभी फिर ये अधर;
हृदय इतना दुख गया है और क्या ?

(२५)

भूल मुझ को भला ही तुम ने किया,
दृगों में अपने न घन घिरने दिया ?
बहा मुझ को भला ही तुम ने किया,
नाव को भारी न जो होने दिया।
नाव से गिर कर तुम्हारी, उदधि में,
तरंगों के बीच मैं असहाय हो,
डूबता उठता बहुत दिन तक जिया,
भूल मुझ को भला ही तुम ने किया।

प्रेम के इन आँसुओं की झड़ी में जब इन्द्र-वरुण का उत्सुक तूर्य गगन में बजने लगता है तब सभी की वेदना को समझने वाले सहृदय के उत्सुक मन में भी इन्द्र (आत्मा-वरुण) (करुण-भाव) का तूर्य बजा। जब बिजली ने बादल तोड़ दिया तब हृदय पर पड़ी कठोरता का आवरण भी टूट गया। जब वह स्वर तर असिधारा को खींच कर कोमल बादल को चीरने लगी तब कोमल हृदय भी वेदना से चीरा जाने लगा और जब कुछ बादलों के मिट जाने पर कुछ नये आगये तब आँसू भी कुछ मिट गये कुछ नये आगये। दिवस भर आकाश घिरा रहा, भू के उर पर गुरु स्वर छोड़ता रहा तो चेतन-नभ भी भावों के मेघों से भर कर, काया को पृथ्वी पर गुरु तर स्वर छोड़ता रहा और अन्तर की सुनीलिमा में दिनकर (ज्ञानसूर्य)

की किरणें छिपी रहीं। ऊपर नभ में बादल गरजे तो नीचे धरती पर घन रव से मूर्छित हुई सुकोमल घास उस के उर से लगी पड़ी रही। जब मंद मनोहर पवन उस मूर्छित हुई घास के केश और वर अधर चूम कर चली तो मरी-सी पड़ी आत्मा भी प्रेम से प्रकंपित न वह पाई। विरह से विकल हुआ पवन धरा पर मंडराता ही रह गया। किन्तु जब कज्जल जलधर गिरि पर झुक आए तो देवदारु हर्षित हो गये, सघन अंधियाली देख फूली डाली, डरने अवश्य लगी किन्तु पृथ्वी पर हर्ष-तरंगे भी उठने लगी और चन्द्र कुंवर के कंपित अधरों पर पुराने गीत आ गये।

(१)

बजा, तुम्हारा तूर्य गगन में, मेरे उत्सुक मन में।
सोह रहा बादल के मुख पर रंग-बिरंगा तूर्य मनोहर!
पीछे से रथ चक्र घर्घरित, उमड़ आ रही घटा घन अमित,
प्रभो तुम्हारी जय कह कर!

(२)

कुछ बरसे बादल, कुछ छाये, कुछ मिट गये, नये कुछ आये,
रहा घिरा आकाश दिवस भर, रहा छोड़ता भू पर गुरु स्वर,
अपने अन्तर की सुनीलिमा में दिनकर की किरण छिपाए!

(३)

मूछित हुई घास घन-रव से, ऊपर नभ में गरजे बादल,
भू पर मूर्छित हुई घास सुकोमल, पड़ी लगी धरती के उर से;
चला पवन जब मंद मनोहर, चूम घास के केश, बर अधर,

वह न प्रेम से हुई प्रकंपित, रही मरी-सी पड़ी धरा पर,
पवन धरा भर में मँडराया, हो कर विकल विरह से।

(४)

तोड़ दिया बिजली ने बादल!
कभी खींच खर-तर असि-धारा ! चीर रही वह कोमल बादल !
कभी जला चटकीली ज्वाला, जला रही वह कोमल बादल !
कभी अकेले शृंग पर खड़ी उसे नखों से चीर रही वह,
कभी भुजंगिनी-सी द्रुतगति से उस के तन में दौड़ रही वह,
यह शीशे सा निर्मल बादल, तोड़ दिया बिजली ने बादल !

(५)

जब नवीन वर्षा के बादल, बरसाने लगते अविरल जल
भर आती धरनी की आँखें, नदियाँ होती बाढ़ से विकल
तब तू मेरे रेतीले तट ! क्यों जल में निमग्न हो जाता ?
किस की सुधि का जल यह बादल रो रो नदियों में बरसाता ?

(६)

आज मंदाकिनी जल में खेलते हैं वरुण अपनी प्रणय-लीला !
घोर केश समूह छितरा काटती अपने किनारे,
गगन को घन-घन कँपाती, पर्वतों को तोड़ बिखरा !
गज घटा से बन बहाती आज कर्दम धूमिला सरि
नाचती उन्मादिनी-सी!
नाचते हैं वरुण, जल में लहर-लहरों में उठाए हाथ पीला !
आज मंदाकिनी जल में खेलते हैं वरुण अपनी प्रणय--लीला.

(७)

हे घन-वसने विद्युत-हासिनि ! नृत्य चंचले! नूपुर-रणिते !
आर्द्र अंचले! तरल लोचने! हे घन-घन स्वन मृदंग-ध्वनिते !
सुघर अप्सरे! मनोहारिणी! हे सलाम कोमल-पद चारिणी !
देख रूप घन-श्याम मनोहर, त्रिभुवन चकित, पयोनिधि चंचल !
व्याकुल निर्झर, उन्मद सरि दल, विन्दु विकल, नभ मुकुर सरोवर,
शैल-शैल पर उड़ते बादल, झरती धाराएँ झर झर !
घन-बसने, वसन तुम्हारा झरता झर झर !

(८)

आधी रात चाँदनी उजली, आधी रात मनोहर बदली !
आधी रात हँसी प्रिय मुख पर, आधी रात प्राणों की हलचल !
आधी-रात चाँदनी मदिरा, आधी रात घन सुरा छल छला
आधी-रात मिलन खामोशी, साँस निकलना भी असहन !
आधी रात छमाछम छमछम, वसुधा भर में नर्तन !

(९)

हे मेघ गामिनी पवन परी, अयि सजल लोचना सुन्दरी !
नभ के कोने कोने से उठ, उतरो हे मुक्त केशिनी!
प्रत्येक साल पर बरसो तुम, हे जीवन-विन्दु वर्षिणी !
शब्दायमान नूपुर नर्तन, गुंजित काञ्ची का कल दोलन,
वीणा ध्वनि पशती प्राणों में, तुम निकट आ रही सुंदरी !
टिक गया शाल पर जलद-यान, फैला रहस्य मय अन्धकार
छाया में इस पुलकित तन पर चुम्बन, बरसे झर झर अपार !

भीगा मेरा नवीन यौवन, वर्षा मिलाप से हो शीतल,
ये अंग--अंग खिल पनप उठे, नस-नस का रक्त हुआ चंचल !

(१०)

राज-हंस-सा स्वच्छ कलेवर, हँसी भरे पर फैला सुन्दर !
उड़ता नील-नील गिरि तट पर, मंद मंद बादल का बालक!
गौर वर्ण गंगा तरंग सा, देह हीन शोभन अनंग-सा
शब्द हीन, चिर मौन चंद्र-सा, मन्द मन्द उडता शिशु-बादल

(११)

पत्ते-पत्ते, शाख-शाख पर बैठा बादल,
छिद्र-छिद्र में यह नवीन वर्षा का बादल
लगा बरसने तरु झर-झर कर, बन नवीन वर्षा का बादल,
लगी बरसने हरी दूब पर, कोयल सुर-सी बूँद सुकोमल!
मेरे पास आकर जीवन धन, हुआ खुशी से पागल-पागल !

(१२)

नभ में वर्षा की छवि छाई, उर में पावस की रितु आई !
मेघों के गद् गद् स्वर सुन कर उर में पावस की रितु आई
बरसी जब, शृङ्गों पर बरसा, अन्तर में व्यथा हुई सहसा!
बरसी जब, शृङ्गों पर बरसा, उर में पावस की रितु आई
झरने चले नदी से मिलने, ले यौवन के उन्माद घने
मेरे उन्माद भरे उर में पिछली पावस की रितु आई !

(१३)

याद हैं तुम्हें न? मित्र! उस दिन के बादल !

लेटे थे गिरि ऊपर हम कोमल दूब पर,
फिरते थे इधर उधर शैलों पर नीर-धर,
करते कुछ परामर्श, आपस में सूर्य्य को,
देख-देख शिखरों पर आ-आ एकत्र हो,
होती थीं नील-नील शैलों की श्रेणियाँ,
जिन को थी डरा रहीं, फट-फट कर बिजलियाँ,
सहसा तूफान चला, बन-बन चिल्लाये,
अम्बर में शब्द हुए, भूधर थर्राये
दौड़े घनघोर मेघ हाथों में वज्र ले,
आहत हो सूर्य्य कहाँ जाने जाकर छिपे,
फैला घन अन्धकार, टूटी दारुण झड़ी,
मिट्टी छिद धूम-राशि, बन कर ऊपर उड़ी,
देख हमें दौड़ रहे, ढालों पर पवन में,
'पकड़ो' कह कड़की थी बिजली तन गगन में,
याद हैं तुम्हें न? मित्र! हम मंदिर में आए,
मेघ-रोष-भूल हम घर थे जब आए,
कोसा था माँ ने फिर आँखें कर के सजल,
याद हैं तुम्हें न? मित्र! उस दिन के बादल?

(१४)

गिरि पर घन आए, देवदार हरषाए,
ये काजल के बादल गिरि पर झुक आए!
हर्ष-तरंगें उठतीं, घनी घटा अब घिरती,

देख सघन अँधियाली, डरती फूली डाली !
इन कम्पित अधरों पर, गीत पुराने आए,
ये काजल के बादल गिरि पर झुक आए !

(१५)

ये बादल हम थोड़ी देर बरस जाने दें,
क्षणिक वेग में भूली हवा निकल जाने दें,
कुछ तरु जो बन गये हैं भादौं घन-से,
उन के भी पाए जल बिन्दु टपक जाने दें,
होने दें सुनील औ सुन्दर यह सुखद गगन,
लटकी घास, पवन-गति से हँसती न काँपती,
भीगी केश-राशि-सी, उसके स्पर्श न जानती,
घन गर्जन से डरी पड़ी धरती के उर पर,
जल की अविरल ध्वनि से उठती न जागती,
किरणों से उठती लख लें हम उसे काँपती।
जब सहसा थम जाता है वर्षा का नर्तन,
चित्र लिखित-सी रह जाती है लखती चितवन,
जब छिप जातीं जल परियाँ, गा आधा गायन,
वह शोभा आँखों में आती इन्द्र धनुष बन-बन,
उसे देख कर सफल करें हम अपने लोचन।
अपनी जन्म भूमि में लख कर अन्तिम वर्षण,
ले जाना तुम मुझे जहाँ चाहो जीवन-धन।
ये अध बरसे मेघ न घुमेंगे नयनों में,

काँप न पावेगा मेरे उर में दल कंपन,
यदि जावेंगे हम लख कर यह अन्तिम वर्षण !

(१६)

सारे संतप्त-हृदय शीतल आ गया लौट रस-मय सावन।
गीतों से भूल रहा वन-तल, नृत्यों से नाच रहा उपवन,
मंगल गीतों को गाती यह, बहती है अविरल जल-धारा,
मेरे कुसुमों में होता था, प्रमुदित अलियों का नव गुंजन,
इस महाकार नभ में कैसे, जलती ज्वाला का वर्षण !

(१७)

गरजो बरसो रिमझिम ! रिमझिम !
इस अथाह मानस—अंबुधि में
शिथिल हुए कर, चलना दूभर,
नाव न खे सकती प्रिय ! पल भर,
निश्चय ही अब मैं डूबूँगी,
इस अथाह मानस—अम्बुध में !
मरण सत्य है बरसो प्रिय घन !
तुम्हीं काट दो जीवन बन्धन,
निज आँसू से नाव डुबा दो,
इस अथाह मानस—अम्बुधि में !
बूँद सदृश तरणी लय करना,
शुभ है तेरे कर से मिटना,
शुभ्र मार्ग प्रिय देख देख कर,

इस अथाह मानस अम्बुधि में !
मानों बरसाओ आँसू कण,
वारि मग्न कर दो यह जीवन,
अपने अन्तिम स्वच्छ रूप में,
लय कर दो यह तरणी—जीवन !
गरजो-बरसो, रिमझिम ! रिमझिम !
इस अथाह मानस—अम्बुधि में !

(१८)

सांध्य कालिमा रिमझिम! रिमझिम! करते घन भैरव गर्जन !
सुन पड़ता है आज प्रवासी प्रेयसि का नूपर गुंजन !
चलती संध्या के अंचल में गो-धूली-सी मलिना,
उत्सुक कर्णों में गाती वह मुखरा नूपर रसना,
चितवन के सर सिहर-सिहर कर तम के अन्तस्तल पर
चला रही नव युवती चपला द्रुत, गिरि पर हँस कर !

(१९)

झर रहे होंगे वहाँ भी, ये उमड़ते मेघ लोचन !
घूमते बन पर्वतों पर विरह से अश्रान्त जल-धर !
कर रहे होंगे वहाँ भी ये धरा में पीर सिंचन ?
झर रहे होंगे वहाँ भी ये उमड़ते मेघ लोचन !
देख सावन श्याम नभ में एक यौवन विस्फुरण,
फैलती होगी प्रवालों में वहाँ भी एक सिहरन !
जब सजल बहता समीरण, कर वनों में मंद विचरण,

काँपती होगी वहाँ भी बल्लरी क्या चकित लोचन !
झुक गई गई घन मेघ-छाया, मूँदने गिरि के नयन,
बन गये पथ सब अपरिचित वाटिका कानन सघन !
कर रहा दयनीय मुझ को यह निशा का स्नेह वर्षण,
झर रहे होंगे वहाँ भी ये उमड़ते मेघ लोचन !
आज इन भीगे दृगों से चू रही हैं बूँद जैसी,
चू रही होंगी वहाँ भी क्या लटों से बूँद ऐसी ?
धो रहे होंगे वहाँ भी वारि-कण क्या कुसुम आनन ?
झर रहे होंगे वहाँ भी ये उमड़ते मेघ लोचन ?
खो गई निश्वास मेरी आज के आकुल पवन में,
खोजते हैं ये विकल दृग छिद्र इस काले गगन में,
झर रहे हैं किन्तु तरु के पत्र गृह में श्याम घन,
आज तरु तरु बन सजल घन कर रहे हैं वारि वर्षण!
बढ़ चली सरिता हृदय की, किस उदधि की ओर पर ?
गिर पड़े दारुण शिला पर ये उमड़ते मेघ निर्झर !
आज मन की क्या दशा तुमको सुनाऊँ राज रानी,
झर रहे हैं मेघ निर्झर इस हृदय की बन कहानी !
मैं पपीहा बन कहीं उड़ आज जो पाता गगन में,
बैठता मैं उस झरोखे पर प्रिया पावन सदन में,
कूकता मैं 'पी कहाँ!' 'विधुरा कहाँ तुम हे प्रिये!'
पढ़ रही हो पत्र प्रिय का स्नेह दीपक को लिये ?
सुन सकोगी क्यों प्रिये ! तुम इन घनों के घोर गर्जन!

जो कँपा देते हृदय, बन सर्पिणी के तीक्ष्ण दंशन !
मैं पपीहा बन यहाँ आया तुम्हारे द्वार जीवन,
झर रहे होंगे वहाँ भी ये उमड़ते मेघ लोचन !

(२०)

घिर आये कैसे मेघ सजल, कहते ही कहते नयनों में !

(२१)

सत्य प्रेम यदि होगा मेरा, तुम विदेशिनी लौटोगी।
तुम मेरे बचपन की पवित्रता-सी फिर मुझे मिलोगी !

(२२)

आज कोलाहल विपिन में, आज जन पद शान्त !
लोचनों में आज घन जल, हृदय में आनंद,
आज गृह के पास बजती
किस तरुण अनुरागिणी की किंकिणी मृदु मन्द ?
आज भैरव रव गगन में, कुञ्ज में मल्लार,
बरसता आवेश झर-झर, फैलता है प्यार !
आज सावन है धरा में, आज हरियाली अनन्त
किन्तु इस पुलकित हृदय में
प्रेम के इस प्रिय निलय में, हँस रहा लज्जित वसन्त!

(२३)

जुगुनुओं से घिरी मेघों से भरी,
देखती सम रूप मेंढक मोर को,
आ गई बरसात आँखों के लिए,

ला गगन से भूमि पर शोभा हरी !
झुक गई गिरि के पदों तक घन घटा,
नील नभ में उड़ गई विद्युत्छटा !
सम समाती भूमि पर है गिर रही,
मोतियों की लड़ी-सी जल की झड़ी,
बोलता तीतर, सुरंग-ग्रीवा उठा,
रही झिल्ली गीत की संपति लुटा !
नाचते हैं मोर—मेंढक पास ही,
दिखाते हैं चाल अपनी इकहरी !
वह गिराती वस्त्र को है, फूल को,
वह खिलाती डालियों पर सदय हो!
कभी काले बादलों में चीखती,
कभी छाया में बजाती वंशरी !
एक-सा करती सदा निशि-भोर को,
लुप्त करती धरा--नभ के छोर को,
वृद्धि देती विश्व में वह चर अचर को,
आ गई वह ऋतु-प्रिया परमेश्वरी !

(२४)

पावस का मास लगा सावन सुखदायी,
धरती ढकती अनन्त हरियाली छाई
घुमी घनघोर गगन में काली बदली,
प्रिय ने हो निष्ठुर सखी! सुध-बुध बिसराई!

(२५)

वर्षा के दिन उठी गगन में सजल घटा प्यारी-प्यारी.
अमराई में छाई कोमल नीली-पीली अँधियारी !
सुन घन गर्जन लिपट गई वह हँस कर सखियोंसे प्यारी,
और सड़क में कूका कोई-'हर मन तोता रे हारी !"
हँसी सुनहली बिजली सहसा टूटी मोती धाराएँ,
छूटी वर्षा दिशा-दिशा में, तोड़ मनोहर कारा एँ,
डूबी उतराई धरती ज्यों मणियों की नैय्या भारी,
चला गया कोई गा-गा कर-'हर मन तोता रे हारी!'
खुले केश थे उस गायक के, फैली थी उस की बाहें,
उठी सजल आँखें, उड़ते थे स्वस्त बसन दाएँ बाएँ !
तरुण पपीहा-सा वह उठती थी उर से वाणी प्यारी,
"आए बादल गरजे बरसे हर मन तोता रे हारी !"
बढ़ता था सूनी सड़कों पर छल-बल, छल-बल कर पानी,
बरस रही थी तर्जन गर्जन कर मेघ-वनों की रानी,
जाने कहाँ खो गया वर्षा में वह उन्मन तरुण भिखारी,
गाता घनी घटा के नीचे 'हरमन तोता रे हारी !'

मेघों की झड़ी मीरा जब अपने प्रिय की प्राप्ति कर लेती है तब उसे बाहर बरसने वाले मेघों की चिन्ता भी नहीं रह जाती। वह आनंद की धार में डूब जाती है। पपीहा चन्द्र कुँवर के लिए प्रेम निलय पुलकित हृदय में 'वर्षा के मेघ' पतझड़ और वसंत दोनों एक साथ ही बन जाते हैं, मंदाकिनी में वरुण की प्रणय लीला बराबर चलती

रहती, उसी के निर्झर उन के वर्षा गीत हैं।

चन्द्र कुँवर के इन वर्षा गीतों में परपरानुमोदित उद्दीपन प्रमुखता कहीं नहीं आती। यद्यपि उद्दीपन का काम वे करते हैं किन्तु अपनी स्वाभाविकता, अपनी सजीवता, अपनी रमणीय सुन्दरता को कभी भी मंद नहीं होने देते। इन में तन्मयता का संगीत, संवेदन-शीलता की तीव्रता और चित्रों की स्पष्टता के साथ, नृत्य करता है। वर्षा अपने शुद्ध रूप में चन्द्रकुँवरमें और किसी सीमा तक सुमित्रानन्दन पंत में मिलती है। निराला.प्रसाद,महादेवी,गुरु भक्त सिंह, मनोहर शर्मा. डाक्टर विनी में उस का स्वरूप निखरा हुआ है किन्तु अन्य भावना तरंगों का सम्मिश्रण भी उस में उतना ही प्रधान है जितना वर्षा सम्बंधी भावनाओं का और कभी कभी अन्य भावनाएँ प्रधान हो जाती हैं, वर्षा-सम्बंधी भावनाएँ गौण।

वेदना की दृष्टि से विद्यापति, कबीर, जायसी, सूर,तुलसी 'गीतावली' के तुलसी, घनानंद, प्रसाद, महादेवी और जगदीश प्रसाद गुप्त 'विश्व' के वर्षा गीत अधिक सुन्दर हैं—

सूर भयो सखि, लाज सौं धूप हुँ चाँदनी की अनुगामिनी ह्वै गई,
पीर उठी बदरीन के बेस मैं द्यौस के देस मैं जामिनी ह्वै गई,
त्यों तम-पुंज के प्रानन मैं परी लीक प्रकाश की स्वामिनी ह्वै गई,
ऐसी बयारि बही बरसात मा मेघ की आतमा दामिनी ह्वै गई,

(जगदीश प्रसाद गुप्त 'विश्व')

इस मरण के पर्व को मैं आज दीपाली बना लूँ।
देख कर कोमल व्यथा को आँसुओं के सजल रथ में

मोम की साधें बिछा दीं थीं इसी अंगार पथ में
स्वर्ण हैं वे मत कहो अब क्षार में उन को सुना लूँ।

(महादेवी वर्मा—दीपशिखा)

अलका की किस विकल विरहिणी की पलकों का ले अवलम्ब।
सुखी सो रहे थे इतने दिन, कैसे हे नीरद निकुरम्ब ?
बरस पड़े क्यों आज अचानक, सरसिज कानन का संकोच ?
अरे जलद में भी ज्वाला ? झुके हुए क्यों किस का साच ?
किस निष्ठुर ठंडे हृत्तल में जमे रहे तुम बर्फ समान ?
पिघल रहे हो किस गर्मी से हे करुणा के जीवन प्राण ?
चपला की व्याकुलता ले कर चातक का ले करुण विलाप,
तारा आँसू पोंछ गगन के रोते हो किस दुख से आप ?
किस मानस निधि में न बुझा था बड़वानल जिस ने बन भाप
प्रणय-प्रभाकर से चढ़ कर इस अनंत का करने माप,
क्यों जुगनू का दीप जला है, पथ में पुष्प और आलोक ?
किस समाधि पर बरसे आँसू ? किस का है यह शीतल शोक ?
थके प्रवासी बनजारों से लौटे हो मंथर गति से !
किस अतीत की प्रणय पिपासा जगती चपला-सी स्मृति से ?

जयशंकर 'प्रसाद'

(१)

पर काजहि देह को धारि फिरौ परजन्य जथा रथ ह्वै दरसौ।
निधि-नीर सुधा की समान करौ, सब ही विधि-सज्जनता सरसौ।
घनआँनँद जीवन दायक हौ कछु मेरियौ पीर हिएँ परसौ।

कबहूँ वा बिसासी सुजान के आँगन मो अंसुवानिहि लै बरसौं।

(२)

घन आँनद जीवन मूल सुजान की कौंधन हूँ न कहूँ दरसैं!
सु न जानिए धौं कित छाय रहे, दृग चातिक प्रान तपै तरसैं!
बिन पावस तो इन्हें थ्यावस हो न सु क्यों करि ये अब सो परसैं!
बदरा बरसैं रितु मैं घिरि कै नितही अँखिया उघरी बरसैं!

(घनानंद)

सब दिन चित्रकूट नीको लागत।
बरषा रितु प्रवेश बिसेष गिरि देखन मन अनुरागत!
चहुँ दिसि बन संपन्न, बिहँग मृग बोलत सोभा पावत!
जनु सुनरेस देस पुर प्रमुदित प्रजा सकल सुख छावत।
सोहत स्याम जलद मधु घोरत धातु रँगमगे सृंगनि।
मनहुँ आदि अंभोज बिराजत सेवित सुर-मुनि-भृंगनि।
सिखर परस घन घटहिँ, मिलति बग-पाँति सो छबि कबि बरनी,
आदि बराह बिहरि बारिधि मनो उठ्यो है दसन धरि धरनी।
जल जुत बिमल सिलनि झलकत नभ, बन-प्रतिबिम्ब तरंग।
मानहु जग रचना बिचित्र बिलसति बिराट अँग अँग।
मंदाकिनिहि मिलत झरना झरि-झरि भरि भरि जल आछे।
तुलसी सकल सुकृत सुख लागे मानौ राम भगति के पाछे।

(तुलसीदास)

(१)

आजु घनस्याम की उनहारि!

उनै आए साँवरे ! लेहु रूप निहारि !
इन्द्र धनुप मनो पीत बसन छबि दामिनि दमन विचारि।
जनु बग पाँति माल मोतिन की चितवत चित लेत है हारि।
गरजत गगन गिरा गोविन्द की सुनत नयन भरे वारि।
सूरदास गुन सुमिरि स्याम के विकल भई ब्रज नारि।

(२)

बरु ये बदराऊ बरपन आए !
अपनी अवधि जानि नँद नंदन ! गरजि गगन घन छाए !
सुनियत हैं सुरलोक बसत हैं सेवक सदाँ पराए।
चातक कुल की पीर जानि के जहँ-तहँ ते उठि धाए।
द्रुम किए हरित, हरिप मिलो बल्ली, दादुर मृतक जिवाए।
छाए निविड़ नीड़ तृन जहँ तहँ पंछिन हूँ कहँ भाए।
समुझत नहिं सखि चूक आपनी बहुते दिन हरि लाए।
सूरदास स्वामी करुनामय मधुबन बसि बिसराए !

(३)

निसि-दिन बरसत नैन हमारे !
सदा रहत वर्षा रितु हम पर जब ते स्याम सिधारे।
नैन न अंजन रहत निसि बासर, कर-कपोल भये कारे !
अंचल पट सूखत नहिं कबहूँ उर बिच बहत पनारे।
ऐसे मिथिल सबै भई काया, पल न जात रस टारे।
सूरदास प्रभु गोकुल बूड़त काहे न लेत उबारे !

(४)

सखी, इन नैनन तें घन हारे !
बिनु ही रितु बरसत निसि बासर, सदा सजल दोउ तारे।
ऊरध-साँस समीर तेज अति, सुख अनेक द्रुम डारे।
बदन-सदन में बसे बचन खग, रितु पावस के मारे।
हरि-हरि बूँद परत कंचुकि पर, मिलि अंजन-सों कारे।
मानहु सिव की पर्न कुटी बिच धारा स्याम निनारे।
सुमिरि-सुमिरि गरजत, अरु छाँड़त अस्सु सलिल बहु धारे
बूड़त ब्रजहि सूर को राखै, बिनु गिरिवर धर धारे।

(५)

अँखियाँ हरि दरसन की भूखी,
कैसे रहैं रूप-रस-राँची, ए बतियाँ सुनि रूखी।
अवधि-गनत, इकटक मग जोवत, तब एती नहि झूँखी।
अब इन जोग सँदेसनि ऊधो, अति अकुलानीं दूखी !
बारक वहि मुख फेरि दिखावहु, दुहि पय पियत पतूखी।
सूर सिकत हठि नाव चलावहु, ए सरिता है सूखी !

(६)

प्रीति करि काहू सुख न लह्यो !
प्रीति पतंग करी दीपक सौं, आपैं प्राण दह्यो।
अलि सुत प्रीति करी जल-सुत सौं, सम्पति हाथ गह्यो।
सारँग प्रीति करी जो नाद सौं, सन्मुख बान सह्यो।
हम जो प्रीति करी माधौ सौं, चलत न कछू कह्यो।

सूरदास प्रभु बिन दुख दूनो, नैननि नीर बह्यौ।

(७)

मधुकर इतनी कहियहु जाइ।
अति कृस गात भइँ ए तुम बिनु, परम दुखारी गाइ।
जल समूह बरषति दोउ आँखिन हूँकति लीन्हे नाउँ।
जहाँ तहा गो-दोहन कीन्हौ, सूँघत सोई ठाउँ।
परति पिछार खाइ छिन ही छिन, अति आतुर ह्वै दीन
मानहु सूर काढ़ि डारी हैं, वारि मध्य तें मीन।

सूरदास

(१)

मतवारो बादल आयो रे, हरि को सँदेसो कछु नहि लायो रे।
दादुर मोर पपीहा बोले, कोयल सबद सुनायो रे।
कारी अँधियाली बिजुली चमके, विरहिन अति डरपायो रे।
गाजे बाजे पवन मधुरिया, मेहा अति झड़ लायो रे।
फूँके नाग विरह की जारी, मीरा मन हरि भायो रे।

(२)

बादल देख झरी हो स्याम, मैं बादल देख झरी।
काली-पीली घटा उमंगी, बरस्यो एक घरी।
जित जाऊँ तित पानिहि पानी हुई सब भोम हरी।
जा का पिव परदेस बसत है, भीजै बार खरी।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर, कीज्यो प्रीत खरी!

(३)

सावन दे रह्यो जोरा रे, घर आओ जो स्याम मोरा रे।
उमड़-घुमड़ चहुँ दिसि से आयो, गरजत है घन घोरा रे।
दादुर मोर पपीहा बोला, कोयल कर रही सोरा रे।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर, ज्यो बारूँ सो ही थोरा रे।

(४)

नँद-नंदन बिलमाई, बदरा ने घेरी माई!
इत घन गरजे, उत घन गरजे, चमकत बिज्जु सवाई,
उमड़ घुमड़ चहुँ दिसि से आयो, पवन चले पुरवाई,
दादुर मोर, पपीहा बोले, कोयल सब्द सुनाई,
मीरा के प्रभु गिरधर नागर, चरण कँवल चितलाई,

(५)

सुनी हो मैं हरि आवन की आवाज!
म्हेलाँ चढ़ चढ़ जोऊँ मेरी सजनी, कब आवैं महाराज,
दादुर, मोर, पपइय्या बोले, कोइल मधुरे साज।
उमग्यो इन्द्र चहूँ दिस बरसै, दामिन छोड़ी लाज।
धरती रूप नवा-नवा धरिया, इन्द्र मिलन कै काज।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर, वेग मिलो महाराज,

(६)

रितु आई बोलत मोरा, स्याम बिना जिया घोरा।
उमड़ घुमड़ के आई बदरिया, बरस रह्यो घन घोरा।
दादुर मोर पपीहा बोलै कोयल कर रहि सोरा।

है को साध-सं देसा लावै, स्याम मिलावै मोरा।
मीरा के प्रभु-गिरधर नागर, स्याम चरण चितचोरा।

(७)

पपइय्या रे पलक लगन दे मोर।
जो कोई सुनि पावै विरहिनी, प्यारे डारेगी पंख मरोर।
या दामिनि बैरिन भई है मोकों, कोईल कर रही सोर
मीरा के प्रभु गिरधर नागर, मैं दुखियारी सजोर।

(८)

पपइय्या रे कूकत हो दिन रैन!
मै कूकत हौं मेरा पिया जु कारन, कल न परत नहि चेन;
रे पपीहा तू काहे कूकत, क्यूँ लागो दुख दैन?
मैं दुखिया विरह की जारी, जरत देत क्यूँ लून?
मीरा के प्रभु पिया के मिलन की, आन कहै कोई बैन!

(९)

रे पपइय्या प्यारे। कब को बैर चितारो?
मै सूती छी अपने भवन में, पिय-पिय करत पुकार।
दाध्या ऊपर लूण लगायो, हिवड़े करवत सारो।
उठि बैठो वृच्छ की डाली, बोल-बोल कंठ सारो।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर, हरि चरनाँ चित धारो।

(१०)

पपइय्या रे पिय की वाणि न बोल।
सुण पावेली विरहणी, थाड़ो रालेली पाँख मरोड़।

चाँच कटाऊँ पपइया रे, ऊपरि कालर लूण,
पिव मोरा मैं पीव की रे, तू पिव कहै स कूण ?
थारा सबद सुहावणा रे, जो पिव मेला आज,
चाँच मढ़ाऊँ थारी सोवनी रे, तू मेरे सिरताज ।
प्रीतम की पतियाँ लिखूँ कउवा तू ले जाइ,
जाइ प्रीतमजी सूँ यूँ कहै रे, थारी विरहण नाज न खाय ।
मीरा दासी व्याकुली रे, पिव-पिव करत विहाइ,
वेगि मिलो प्रभु अन्तरजामी, तुम विन रह्यो न जाइ ।

(११)

मेहा बरसबो करे रे, आज तो रमियो मेरे घरे रे ।
नन्हीं नन्हीं बूँदन मेघ घन बरसे, सूखे सरवर भरे रे ।
बहुत दिना पै प्रीतम पायो, बिछुरन की मोहि डर रे ।
मीरा कहे अति नेह जुड़ायो, मैं लियो पुरचलो वर रे ।

(१२)

देखी बरसा की सरसाई, मोरे प्रिया जी की मन में आई ।
नन्हीं-नन्हीं बूंदन बरसन लाग्यो, दामिनि दमक रहे झर लाई ।
श्याम घटा उमड़ी चहुँ दिसि से, बोलत मोर सुहाई ।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर, आँनँद मंगल गाई ।

(१३)

बरसे बदरिया सावन की, सावन की मन भावन की ।
सावन में उमग्यो मेरो मनवा, भनक सुनी हरि आवन की ।
उमड़ घमड़ चहुँ दिशि से आयो, दामिनि दमके झर लावन की,

नन्हीं नन्हीं बूँदन मेहा बरसे. सीतल पवन सोहावन की,
मीरा के प्रभु गिरधर नागर, आँनँद मंगल गावन की।

(१४)

बदरा रे तू जल भरि लायो।
छोटी-छोटी बूँदन बरसन लागी, कोयल शब्द सुनायो,
गाजैं बाजैं पवन मधुरिया, अम्बर बदरा छायो।
सेज सँवारी पिय घर आये, हिल मिल मंगल गायो,
मीरा के प्रभु हरि अविनासी, भाग भलो जिन पायो।

(मीरा)

ऋतु पावस बरसै, पिउ पावा। सावन भादौं अधिक सोहावा॥
पदमावति चाहति ऋतु पाई। गगन सोहावन, भूमि सोहाई।
कोकिल बैन, पाँति बग छूटी। धनि निसरीं जनु वीरबहूटी॥
चमक बीजु, बरसै जल सोना। दादुर मोर शब्द सुठि लोना॥
रंगराती प्रीतम सँग जागी। गरजे गगन चौंकि गर लागी॥
सीतल बूँद ऊँच चोपारा। हरियर सब देखाइ संसारा।
हरियर भूमि कुसुम्भी चोला। औ धनिपिउ सँग रचा हिंडोला।
पवन झकोरे होइ हरप, लागे सीतल बास।
धनि जानै यह पवन है, पवन, सो अपने दास॥

(जायसी)

(१)

गगन-गरजि बरसे अमी बादल गहिर गंभीर।
चहुँ दिसि दमके दामिनी, भीजे दास कबीर॥

(२)

गगन घटा घहरानी, साधो, गगन घटा घहरानी।
पूरब दिसि से उठी बदरिया रिमझिम बरसत पानी।
आपन आपन मेड़ सम्हारो, बह्यो जात यह पानी।
मन कै बैल, सुरत हरवाहा जोत खेत निरवानी।
दुविधा दूब छोल करु बाहर, बोव नाम की धानी।
जोग जुगति करि कर रखवाली चर न जाय मृग धानी।
बाली झार कूट घर लावै सोई कुसल किसानी।
पाँच सखी मिल कीन रसोइया एक सें एक सयानी।
दूनों थार बराबर परसें जेवैं मुनि अरु ज्ञानी।
कहत कबीर सुनो भाई साधो यह पद है निरवानी।
जो या पद को परिचै पावै ता को नाम विज्ञानी।

(कबीर)

सखि हे हमर दुखक नहि ओर।
इभर बादर माह भादर, सून मन्दिर मोर।
झंपि घन गरजंति संतत भुवन भरि बरसंतिया।
कन्त पाहुन काम दारुन सघन खर सर हंतिया।
कुलिस कत सत पात, मुदित मयूर नाचत मातिया।
तिमिर दिग भरि घोर यामिनि, अथिर विजुरिक पाँतिया।
विद्यापति कह कइसे गमावोब हरि विना दिन सतियाँ।

(विद्यापति)

अलंकार चमत्कार की दृष्टि से सेनापति, केशव और भूषण के वर्णा

विषयक छंद महत्व के ठहरते हैं—

(१)

दामिनि दमक, सुरचाप की चमक, स्याम
घटा की झमक अति घोर घन घोर तैं।
कोकिला, कलापी कल कूजत हैं जित तित
सीकर ते सीतल समीर की झकोर तैं।
सेनापति आवन कह्यो है मन भावन सु
लाग्यो तरसावन विरह जुर जोर तैं।
आयौ सखि सावन, मदन सरसावन
लाग्यौ बरसावन सलिल चहूँ ओर तैं।

(२)

सेनापति उनये नये जलद सावन के
चारि हू दिसान घुमरत भरे ताहू कै,
सोभा-सरसाने, न बखाने जात काहूँ भाँति
आने हैं पहार मानो काजर के ढोइ कै
घनसौं गगन छयौ, तिमिर सघन भयौ
देखि न परत मानौं रवि गयौ खोइ कै
चारि मास भरि स्याम निसा के भरम करि
मेरे जान याही तें रहत हरि सोइ कै।

(सेनापति)

भौं हैं सुरचाप चारु प्रभुदित पयोधर
भूख न जराय जोति तड़ित रलाई है।

दूरि करी सुख मुख सुषमा समी की नैन
अमल कमल-दल दलित निकाई है
केसोदास प्रबल करेनुका-गमनहर
मुकुत सुहंसक-सबद सुखदाई है
अम्बर बनित मति मोहै नीलकंठ जू की
कालिका कि बरखा हरषि हिय आई है ?
(केशवदास)

बहल न होंहिं, दल दच्छिन घमंड माँहि,
घटा ये न होहि दल, सिवाजी हँकारी के,
दामिनी दमंक नाहि, खुले खग्ग बीरन के:
बीरन सिर छापु लखु तीजा असवारी के,
देखि-देखि मुगलों की हरमैं भवन त्यागैं;
उझकि उझकि उठैं बहत बयारी के,
दिल्लीपति भूल मति, गाजत न घोर घन,
बाजत नगारे ये सितारे गढ़-धारी के !

आनन्द की दृष्टि से रामतीर्थ के गीतों को हम नहीं भूल सकते। यद्यपि रामतीर्थ मुख्य रूप से अद्वैत वेदान्त के सौन्दर्य प्रेमी दार्शनिक थे किन्तु उन्होंने कवि हृदय भी पाया था। रामतीर्थ (जन्म २२ अक्टूबर १८७३ई० मृत्यु १७अक्टूबर-१९०६ई०) के लिए असीम सौन्दर्य के द्वार खुल चुके थे। परमात्मा की विभूति उन्हें सर्वत्र अपनी सुन्दरता को दिखा आनन्द मग्न कर देती थी उन्हें बादल की साड़ी में चाँदनी की किनारी नजर आती थी, नदी-तीर की दूब पर तरंगों से उछाली मोती

जैसी बूँदों को पड़ते देख उनकी भावुकता बिछौने की चादर पर मोतियों का पिरौना देखती थी। चाँदनी की छटा को वे प्रकृति सुन्दरी की ओढ़नी मानते थे। तारों भरे आकाश को देख वे मोतियों के थाल को सिर पर धरे, प्रकृति सुन्दरी का नृत्य देखने लगते। प्रकृति के विचित्र सुन्दर दृश्यों को देख कर वे मस्ती से झूम उठते थे—

(१)

मेह बरसा मोतियों का,
तूफान आँसुओं का झिम! झिम!! झिम!!!

(२)

ठंडक भरी है दिल में, आनन्द बह रहा
अमृत बरस रहा है, झिम-झिम! झिम-झिम!

(३)

रात का वक्त है बियाबाँ है, खुश बजा पर्वतों में मेंढ़ा है।
आस्माँ का बताएँ क्या हाल, मोतियों से भरा हुआ है थाल।
चाँद है मोतियों में लाल धरा, अब्र है थाल पर रूमाल पड़ा।
सर पर अपने उठा के ऐसा थाल, रक्स करती है नेचरे खुशहाल।

(४)

अजब लुत्फ है कोह पर चाँदनी का,
यह नेचर ने ओढ़ा है जाली दुपट्टा!
दिखाता है आधा, छिपाता है आधा,
दुपट्टे ने जोबन किया है दो बाला!
नशे में जवानी के माशूके नेचर,
है लिपटी हुई राम से मस्त होकर!

(५)

यह पर्वत की छाती पै बादल का फिरना,
वह दम भर में अब्रों से पर्वत का घिरना,
गरजना, चमकना, कड़कना, निखरना,
छमाछम, छमाछम ये बूंदों का गिरना !
अम्मे* फलक का, वह हंसना, यह रोना,
मेरे ही लिए है फकत जान खोना।

(६)

मैं सैर करने निकला, ओढ़े अब्र की चादर।
पर्वत मैं चल रहा था, हवा के बाजुओं पर।
मतवाला झूमता था हर तरफ घूमता था,
झरने नदी औ नाले पहचान कर पुकारे···

(७)

पहाड़ों का यों लम्बी ताने यह सोना,
वह गुंजाँ दरख्तों का दोशाला होना,
वह दामन में सब्जे का मखमल बिछोना,
नदी का बिछौने की झालर पिरोना,
यह राहत मुजस्सिम, यह आराम मैं हूँ,
कहाँ कोहो दरिया यहाँ मैं ही मैं हूँ !

(८)

यह सैर क्या है अजब अनोखा, कि राम मुझ में मैं राम में हूँ

---

* दिवि—बधू

वगैर सूरत अजब है जलवा, कि राम मुझ में मैं राम में हूँ,
मुकाम पूछो तो ला मकां था, न राम ही था न मैं वहाँ था,
लिया जो करवट तो होश आया कि राम मुझ में मैं राम में हूँ.

(६)

क्या खूब था तमाशा, यह ख्वाब कैसा आया,
वन वन में राम ढूँढा, मैं राम खुद वन आया।

(११)

ऐ लोगो तुम को क्या हुआ है जो हिलते जरा नहीं ?
क्या तुम ने लाल कुरती को देखा कभी नही?

(११)

न तुझ से है मतलब न सूरत से तेरी,
मुसव्वर की हम तो कलम देखते हैं.

(१२)

अलविदा, मेरी रियाजी[1] ! अलविदा !
अलविदा, ऐ प्यारी रावी अलविदा !
अलविदा ऐ अहले खाना![2] अलविदा !
अलविदा मासूमे नादाँ अलविदा !
अलविदा ऐ दास्तो दुश्मन अलविदा !
अलविदा ऐ शीतो ऊशन अलविदा !
अलविदा ऐ कुतबो[3] तद्रीसे! अलविदा !
अलविदा ऐ खुब्सो-तकसीदे[4] अलविदा !

१--गणित २--घर के लोगो ३--पोथी-पढ़ाई ४--बुरा-भला, स्तुति-निंदा

अलविदा ऐ दिल ! खुदा ! ले अलविदा !

अलविदा राम, अलविदा ऐ अलविदा !

रामतीर्थ की भाँति लाल कुर्ती पहिन कर जग के बीच चन्द्रकुँवर नहीं घूमे किन्तु यातनाओं ने उन्हें प्रकाश का वह देश अवश्य दिखा दिया जहाँ तिमिर के तल में उज्वल मोती हँसते है जहाँ स्तुति निंदा की चिन्ता नहीं रह जाती, जहाँ सभी दिशाएँ मित्र हो जाती है जहाँ जीवन-वन में, पवन में ईश्वर का पवित्र नाम सुनाई देता है, जहाँ कोई भी शत्रु नहीं रह जाता सभी दिशाएँ मित्र हो जाती है और कवि प्रसन्न हो कर कह सका--'बसन गेरुवा, इस से अच्छा साज न कोई, सभी दिशाएँ मित्र शत्रु है आज न कोई।'

शरद रितु के उस भाव लोक में भावनाओं की रितु प्रिया परमेश्वरी को जी भर कर प्यार कर ही कवि पहुँच सका। मीरा भी उस स्थिति में मेघ की झड़ी बन कर पहुच पायी। मीरा और चन्द्रकुँवर के सर्वाति सुन्दरगीत मेघ मुक्ताओं के ही गीत है। संयोग से चन्द्रकुँवर की तो जीवन मृत्यु की रितु वर्षा ही है उनका जन्म पाँच भादों उन्नीस सौ छहत्तर विक्रमीय को बृहस्पतिवार के दिन हुआ था उनकी मृत्यु उनतीस भादों रविवार दो हजार चार विक्रमीय को हुई। चन्द्रकुँवर ने यद्यपि सभी रितुओं को अपनाया है और यह भी कहा है 'जगती में आती कितनी रितुएँ पर मधु रितु-सी और नहीं, किन्तु उनके जीवन काव्य में 'रितु प्रिया परमेश्वरी' वर्षा रितु ही बन पाई, माँ के रूप में वे उसी का अभिनन्दन वे कर सके—

(१)

प्राण प्रफुल्लित कर दो मधुर चुम्बनम,
झमक बरस दो औंदो मेघ मंद्र गाँदो,
वर्षा मनोहारिणी दातुं नव जीवनम।

(२)

कितने प्रवास पश्चात् घिरे आज फिर ये सजल श्याम घन !
कितने दिन बाद भरे माँ के ये क्षीर-नीर से भरे स्तन !
भोली इस धरणी बाला की आँखें गद्गद् भर आई हैं।
कितने प्रवास पश्चात् आज वर्षा माँ नभ में आई हैं।
बहती व्याकुल हो स्नेह-स्वास, उर-स्पंदन स्वग करते स्वागत
उमड़ी माँ आओ दिशि-दिशि से, चरणों में करती शीशानत !
तुम पाप बहाने जग का, करुणा ले आई बिछुड़ी माँ !
उर धड़कन द्रुत बढ़ती जाती छूने वह पूत चरण माँ
धो देंगे मेरे कलुष आज ये स्नेह-वारि से भरे नयन
उड़ जावेंगे मृदु कुसुम वहीं पावन उड़ जावें जहाँ चरण
धुँधली आँखों से अभिनन्दन, करती आओ अमृत वर्षण
आओ आओ हे पयोधरा, आओ करती रिमझिम, रिमझिम !

हिन्दी के कवियों के वर्षा गीतों में एक प्रकार की परपरागत प्रणाली ही की प्रधानता रही है,चन्द्रकुँवर के वर्षा गीत, निराला के 'गरज गरज रे बादल' अथवा 'झूम झूम मृदु गरज गरज घन घोर' के बादल राग से भिन्न, चन्द्रकुँवर के मेघों का राग है उसमें मेघदूत और श्यैले के क्लाउड की छायाओं से बने 'सुरपति के

अनुचर' बादल की निष्प्राणता नहीं है न भोले बालक के काले बादल का कालापन ही। उसके प्राणों में वैदिक कवि का उल्लास, वाल्मीकि—'मुक्ता सकाशं सलिलं पतद्वै सुनिर्मलं पत्र पुटेषुलग्नम्। हृष्टा विवर्णच्छदना विहंगाः सुरेन्द्र दत्तं तृषिताः पिबन्ति'-वाले वाल्मीकि की सरल स्वच्छ धारा-वाहिकता, 'नव सलिल निषेक-च्छिन्नतापः वनान्तः' तथा आषाढ़स्य प्रथमदिवसे मेघमाश्लिष्ट सानुं' वाले कालिदास की सरसता, 'तिमिर दिग भर घोरयामिनि अथिर बिजु-रिक पाँतिया', वाले विद्यापति की धड़कन कंपन, 'गगन गरजि बरसे अमी', वाले कबीर की आनंदानुभूति, 'पवन झकोरे होइ हरष, लागे शीतल बास' वाले जायसी की तरलता, मीरा का पपीहापन, सूर की व्यंजना, गीतावली के चित्रकूट प्रेमी तुलसी की सुसंबद्धता, घनानंद की तीव्रता, सेनापति और केशव की विस्मय विमुग्ध कारी प्रतिभा, प्रसाद की भावचित्र-साकारता और महादेवी की सजलता, डाक्टर विनी की ममता, माता की करुणा, अपने हृदय की सजीवता, और हिमवन्त की सुन्दरता, सब एक साथ है। चन्द्रकुवर की-सी विराट् चेतना के किसी भी अन्य हिंदी प्रेमी साहित्यिक में दर्शन हुए—है तो डाक्टर विनी और कुसमपाल के साहित्य में। कुसमपाल की 'चन्द्रकुँवर जीवन झर-मर सौंदर्य प्रेमी हृदय की स्नेह कुसुमाञ्जलि है। डाक्टर विनी की सुन्दरतम रचनाओं'— हिमशृंगों की ओर, विनय, फूलों का उपहार, 'सूरदास' आदि में ही अब तक चन्द्र कुवर की उस संवेदनशीलता के दर्शन हो पाये हैं जिस पर सम्पूर्ण विश्व की सुन्दरता न्योछावर की जा सकती है।

जीवन-सुन्दरता

चन्द्र कुँवर मंदाकिनी, हिम-ज्योत्स्ना की धार ;
विकल वेदना बाँसुरी, बहती शान्ति अपार।

जीवन और सृष्टि का आरंभ कब हुआ, कब उस का अंत होगा, क्या उस का लक्ष्य है, इन प्रश्नों का कोई भी एक संतोषजनक उत्तर नहीं दिया जा सकता। किन्तु जाने या अनजाने जीवन और सृष्टि दोनों की धारा निरंतर आगे बढ़ती रहती है। देश, काल और परिस्थितियों की शाश्वत धाराओं से मिल कर जीवन और साहित्य की धाराएँ भी इस सृष्टि के साथ निरंतर आगे बढ़ती रहती हैं। किसी को भी एक क्षण के लिए विराम नहीं।

अनंत से प्रकट हो कर सृष्टि जिस दिन बाहर निकल पड़ी अंधकार की गुफा से जीवन तीर की तरह छूट पड़ा उसी दिन से वे दोनों बराबर किसी खोज में विकल हैं। अपनी व्याकुलता मिटाने के लिए अविराम गति से अंतहीन पथ पर चल रहे हैं। सारी प्रकृति क्षण-क्षण नव परिवर्तन दिखलाती जाती है।

प्रत्येक वस्तु जाने या अनजाने एक ही कहानी कह रही है। अमोल चाँदनी अपने आप आकर भूमंडल में व्याप्त हो जाती है। कभी बादलों में चुपचाप तैरने लगती है, और कभी अर्द्ध रात्रि के प्रसुप्त मौन को भेद कर पेड़ों के पर्वताकार कुंजों पर चुपचाप निश्चल

ठ जाती है। कभी नवनीत कोमल फेन पर अपने बिम्ब से खेलती । कभी उड़ कर पर्वतों पर पहुँच जाती है। पर्वत उस में डूब जाते । पृथ्वी की सभी वस्तुएँ सुन्दर हो जाती हैं। मन अपनी स्थितियों को अनप्राणित करने वाले वायु मंडल से ऊपर उठ जाता । पृथ्वी पर चाँदनी के बादलों की सरसता बरसती है। झिलमिलाती वा चलती है। कुमुदिनी और रजनी गंधा पुलकित साँसे भरने गती हैं। सुधा के सागर पृथ्वी पर फैल जाते हैं और चाँदनी, सुख को ख लगा देती है।

ज्योत्स्ना में चमकती हुई नदियाँ दौड़ती हुई किसी ओर चली ाती हैं लहरें तट के चट्टानों से आहत हो कर, बिखरती हुई ऊपर को उठती हैं, किसी से अपनी व्यथा कहने के लिए-सी। दूसरे ही क्षण एक मित्र लहर, उस आहता को अपनी बाँहों में भर कर, उस के कानों में कुछ कहती हुई आगे बढ़ जाती है, नदी, वह अल्हड़, वह चंचल, घर से बाहर निकल, इधर-उधर भटकती, प्रत्येक लहर में 'पी-आस!'। 'पीआस!' पुकारती हुई सुदूर मैदान में खो जाती है।

निर्झर अपने हृदय में अनन्त का प्रतिबिम्ब छिपाए, कुछ गाते हुए आगे बढ़ जाते हैं। तितली रंग-बिरंगे फूलों पर उड़-उड़ कर निरंतर किसी की ढूँढ करती, स्वयं रंग-बिरंगी हो जाती है। भ्रमरों की गूँज और पुष्पों की सुरभि से उन्मत्त हुई कोयल आम्र मंजरी को झुला कर कुछ कह जाती है। वन-दूर्वा के बीच खेतों की पीली सरसों पर भिन भिनाती मधुमक्खी की गूँज मन में अतल अलबेली व्यथा जगा देती है। मारुत के स्पर्शों से प्राण व्याकुल हो जाते हैं।

भौंरों के लिए फूल अपने प्रभात गान, पत्रों पर लिख जाते हैं। गह्वर से सिर बाहर निकाल कर भुजंगिनी, पत्तों पर पड़ी हुई ओस को चाट जाती है। धूमिल सांध्य तारकों की छाया के नीचे पृथ्वी पड़ी नजर आती है। भौंरे कुसुमों के आस-पास मँडराते रह जाते हैं और किरणें कमलिनी से विदा ले लेती है। पश्चिमा के अधरों पर से दिवाकर चुम्बन मिट जाता है। और अंधकार में नदियों का व्याकुल रोदन भर शेष रह जाता है।

विश्व में इसी प्रकार अनेक लीलाएँ होती रहती है, सभी अनंत प्राण स्पंदन के रहस्य को ही प्रकट करती हैं। पतझड़ में अपने पत्रों को लुटा कर, अपनी कोकिला के गीतों को खो कर अपनी सूखी बाँहों के बीच गूँजते हुए निष्ठुर वायु का संगीत, वृक्ष सुना करते हैं। और एक दिन उन की डाल डाल नये पत्रों से भर जाती है। वे चुपचाप अपने ही पत्रों के उठते हुए मर्मर को सुनने लगते हैं। साँझ होते ही उन की डालों में कोकिला के गीत सुनाई देने लगते हैं। उन की बिछुड़ी हुई कोकिला उन के हृदय कोटरों में बसेरा करने लौट आती है। जिन वैभव हीन सूखे वृक्षों को कोई पूछता भी न था उन्हीं की घनी छाया में प्राण विश्राम करने लगते हैं।

ग्रीष्म के आते ही सारी काया पलट जाती है। आतप से प्राण कुम्हला जाते हैं। जलधाराओं के समीप, मैदानों में फैली दूर्वा पर पशु एकाग्र भाव से चरते है। उन की मंजु घण्टियों के मृदु स्वर तथा हिलती पूँछों के कंपन, सुनने-देखने वालों को सुख देते हैं। आतप में कुम्हलाई

भेड़ें, छाया में पड़ी रोमथन करती हैं। तटों पर उज्ज्वल मोती बिखेर हिम शृंगों से आने वाली नदियाँ नाचती हुई दूर दौड़ जाती हैं।

प्रकृति की सगुण व तुए अविराम रूप से किसी धारा में उठती बिखरती और लीन होती चली जा रही हैं। अंतहीन यात्रा है।

मनुष्य भी जाने या अनजाने आत्म-साक्षात्कार करने में लगा हुआ है। प्रकृति ने अंग तथा अन्तःकरण दे कर उसे इस योग्य बना दिया है कि वह आत्मप्रकाश द्वारा अपनी विस्मृति के अंधकार को मिटा कर अनत ज्ञानैश्वय सौन्दय के दर्शन कर सके।

सीमित सत्य सौन्दय के ज्ञान से मनुष्य को पूर्ण सन्तोष नहीं होता क्योंकि स्वयं उस के जीवन मे अनंत ज्ञानैश्वय सौन्दर्य की स्फूर्ति है जिस के कारण वह अपने अपूर्ण ज्ञानैश्वर्य सौन्दर्य को पूर्ण करने के प्रयत्न में लगा रहता है।

एक प्राण सूत्र में ग्रथित होने के कारण मनुष्य अपने अस्तित्व में जिस सत्य का अनुभव करता है उसी का विश्वव्यापी आकर्षण अनादि कालसे उसे अपनी ओर खींचता चला आया है। वह अपने प्राणों के संगीत में उसी ज्योति के स्वर सुनता है, असीम नीलाकाश को विमुग्ध हो प्रणाम करता है। बुद्धि थक जाती है। कल्पना विराम माँगती है, पर मन नहीं मानता। असीम को सीमाओं में भरने का प्रयत्न बराबर चलता रहता है। लेकिन सीमाओं में असीम अटा ही नहीं सकता। आदर्श, सीमाओं पर खड़ा होने पर भी यथार्थ से ऊपर ही रह जाता है। असीम ज्ञानैश्वर्य सौन्दर्य भी इन्द्रियों को धोखा देता है, पर इस धोखे में भी सत्य का अनुभव रहता है-

"जो सुख होता धोखा खा कर पछताने में,
जो सुख होता फिर फिर कर धोखा खाने में,
अमर वही सुख तो करता नश्वर जीवन को।'

(चन्द्रकुँवर कृत नन्दिनी से)

मन की यह मीठी वेदना, घनी भूत विव्हल कारी दशा में अनत सौन्दर्य धाराओं में फूट पड़ती है और मनुष्य कहता है, चाँदनी में जलधि लहराने लगा है कलाओं की सृष्टि हो गई है।

कलाओं की यह धारावाहिक चाँदनी मनुष्य को निहाल कर देती हैं वह अपनी कल्पनाओं के स्वर्ग को पृथ्वी पर साकार उतरा देखता है। उस के सुख का अन्त नही रह जाता—

'अन्त नहीं है आज विश्व में मेरे सुख का।

(चन्द्र कुँवर कृत नंदिनी से)

इस अनुभूति के हो जाने पर फिर उसी को निरन्तर लाने का प्रयत्न मनुष्य करता है , पर खींच तान कर वह लाइ नहीं जा सकती वह स्वेच्छा से ही प्रसन्न हो कर आती है। आव्हान से दौड़ी चली आ सकती है पर ग ालेि आदर्शों को वह कान नही देती। प्रदर्शन से उसे बैर है । वह स्वच्छन्द सरलता को अपना कर बढ़ती है, प्रकृत रूप में खिलती है। पर मनुष्य अपनी कृत्रिम संस्कृति का दास उसे भी बना देना चाहता है । उस चाँदनी का मन उड़ जाता है और भयंकर कंकाल किलकारियाँ भरने को रह जाते है। दोनों ही प्रकार से वह सौन्दर्य प्रभा अपनी छाया-छाप छोड़ कर ही रहती है। उस का दिव्य प्रकाश मनुष्य को अंधकार के बीच भी पथ दिखलाता है, जिस से राह भूला बटोही भी ठीक राह

पर लग जाता है। इस दिव्य प्रकाश से मनुष्य की आंतरिक दृष्टि जगमगा उठती है। सहज ही वह अपनी सारी अपूर्णता का अनुमान कर लेता है और उसे दूर करने के यत्न में लग जाता है।

मनुष्य की भावना, बंधन-मुक्त होना चाहती है। इसीलिए वह उस के सारे अस्तित्व से फूटकर बाहर निकल आने के प्रयत्न में लगी रहती है। मन्दिरों के सौंदर्य में प्रकट हो कर वह मनुष्य की विकलता का पहला चिन्ह है, तो मूर्ति में रूप-धारण कर उसकी उन्नति का दूसरा चिन्ह। मूर्ति की एक रूपता में स्थिर न रह यदि चित्र में जीवन की अनेक रूपता वह धारण कर लेती है तो चित्र की मूकता को छोड़ कर सङ्गीत में नाद का आसरा लेती है। किन्तु विकलता अथवा विफलता उसे वहाँ भी नहीं टिकने देती, अङ्ग-अङ्ग में वह विकासोन्मुखी नृत्य करने लगती है। और सारी साधना को एकत्रित कर अपनी व्याकुलता में इतनी तल्लीन हो जाती है कि प्रियतम उसकी छटपटाहट को अधिक नहीं देख सकते और काव्य में प्रकट हो उसे अपने आनन्द रस से परिपूर्ण कर देते हैं। ज्ञानैश्वर्य सौन्दर्य की अनुभूति से मनुष्य अपने अस्तित्व को ही खो देना चाहता है, और आध्यात्मिक तल्लीनता के सहारे अपने प्रियतम की प्राप्ति भर उसे नहीं होती वरन् स्वयं भी वह प्रीतम बन जाता है। आत्म दर्शन कर लेने से स्वयं वह अनन्त हो जाता है। उस का कोई शत्रु नहीं रह जाता, कोई मित्र भी नहीं। जिसके हृदय का मुँदा कमल खुल गया उसके लिए राग-द्वेष कहाँ? किन्तु इस स्थिति की सिद्धि तक मनुष्य को अपनी वेदना, अपनी व्याकुलता और अपनी बेचैनी को धीरज से सहते हुए, अपने जीवन में अनन्त

को प्रकट करने के प्रयास में लगा ही रहना पड़ता है, उस से मुक्ति नहीं छूट नहीं, चाहने पर भी नहीं। वह थक जाय तो भी गति रुकेगी नहीं। समय कभी किसी के लिए रुका नहीं रहता, न तुम्हारे लिए, न मेरे लिए, न किसी और के लिए ही।

आनन्द को पाने के प्रयास में, अथवा अपने विस्मृत स्वरूप के प्रत्यक्ष दर्शन करने की अभिलाषा से मनुष्य ने सुन्दर-सुन्दर मन्दिरों का निर्माण कर उन पर अपनी सौंदर्य प्रियता की छाप छोड़ दी है। विकास की ओर अग्रसर होता हुआ वह मूर्ति, चित्र, सङ्गीत, नाट्य तथा काव्य-कलाओं की श्रेणियों को पार करता हुआ केवल सौन्दर्यानुभूति की चरम अवस्था स्वयं सिद्धि अत्यन्त प्रसिद्ध--आत्म-तल्लीनता तक पहुंचा, जहाँ उसने अपनी सम्पूर्ण क्रियाओं का अन्त पाया। उसे परम शान्ति प्राप्त हुई और वह उसी में एक हो गया। किन्तु तल्लीनता की बेहोसी दूर होने पर वह अपने को जड़ काया के बन्धन में पाता है। लेकिन अब उसकी बुद्धि समस्त विभिन्नताओं में विद्यमान एकत्व को पहिचान लेती है। इसीलिये वह नीरवता में भी प्राणों का स्पंदन पाता है। निरत ध रात्रि के प्रस्तुत मौन में भी उसके हृदय पर चापे पड़ने लगती हैं, जैसे कोई गति से पद संचालन कर रहा हो। ऐसे समय उसे अपने प्राणों की धड़कन भी असह्य हो जाती है, क्योंकि मौन चेतना के शाश्वत निमंत्रण को वह अस्वीकृत नहीं कर सकता। वह प्रकृति के नीरव संकेतों को समझता है। फूलों की, पत्तियों की, नदियों की, झरनों की, पशु पक्षियों की व्यथा को, उनकी नीरव सांकेतिक भाषा के स्वरों को पहिचानता जानता है। उनके सुख-दुखों में मिलने के लिए वह अपनी सारी क्रियाओं की शक्ति को

केन्द्रित करना चाहता है। इसीलिए ऐसे समय प्राणों के लिए उसका आदेश होता है----

'रे प्राण ठहर जरा, यह कैसी पग ध्वनि आई'

(रामतीर्थ)

भाव की अति विह्वल कारी तीव्र दशा में वह मूर्छित हो जाता है। आनन्द सौन्दर्य उस की चेतना को अपनी झलक दिखा कर शान्ति और रस के लोक में हर ले जाते है। बेहोशी दूर होने पर वह भाव के अभाव से आकुल हो प्रत्येक वस्तु में उस आनन्द रस के रूप की झलक पा कर उसे ढूँढता फिरता है और न पा सकने पर 'पाउँ कहाँ हरि हाय तुम्हें धरणी में धसौ कि आकाशहि चीरौं' कह बैठता है।

विश्व की प्रत्येक वस्तु में अनन्त प्राण-सूत्र विद्यमान है, किन्तु मनुष्य ही शायद एक ऐसा प्राणी है जो अपनी बुद्धि से अपनी इन्द्रियों में इस रहस्य तक पहुँच सकने की समर्थ सामर्थ्य चैतन्य किये है। परन्तु निज स्वरूप विस्मृति का पर्दा पड़ जाने से मनुष्य की भी मति ऐसी हो जाती है कि वह सत्य स्वरूप से दूर, इन्द्रियजनित उद्वेगों के बहावे में मनुष्य को बहने देती है। मनुष्य तब अपने जीवन के उद्देश्य को भूल पशु की तरह केवल उद्वेगों से ही प्रभावित होकर रह जाता है। इस बुद्धि विकार के निराकरण के लिए घोर साधना, कठिन तपस्या चित्त-शुद्धि, सरल व्यवहार, सत्य निष्ठा, उदार प्रेम, करुणा, उच्च शिक्षा, उच्च संस्कृति तथा परिष्कृत प्रयासों की सतत आवश्यकता होती है। मनन, चिन्तन, स्वाध्याय, इन्द्रिय निग्रह, सत-साहित्य, अध्ययन, सत-संगत आदि की महान् महिमा इसी प्रयोजन की सिद्धि के लिए इतनी गाई जाती है।

इन विविध प्रयासों से, नाम रूप के ससर्ग से उत्पन्न हुई भेद बुद्धि मिट जाती है। बुद्धि पर पड़ा हुआ विस्मृति का पर्दा झीना हो जाता है। फलस्वरूप मनुष्य का विवेक जागरित हो कर एकाएक उसे इन्द्रिय जनित उद्वेगों से प्रभावित नहीं होने देता, वरन् सत्, असत् अथवा श्रेय का विचार कर सत्यान्वेषण में मनुष्य की प्रवृत्ति को लगाता है। मनुष्य इस मार्ग में आने वाली बाधाओं का सामना बड़ी धीरता से करता है। वह तब तक इस प्रयास में लगा रहता है जब तक उस के समस्त क्रिया कलापों की सिद्धि, आनंद की एक रस प्राप्ति उसे नहीं हो जाती। मनुष्य ही नहीं समस्त सृष्टि इसी उद्देश्य की पूर्ति करने में लगी हुई है।

अपने वास्तविक अस्तित्व की इस चरम अवस्था तक पहुँचने के लिए चेतन को चेतना द्वारा जो जो प्रयास करने पड़ते हैं उन्हीं के दर्शन, मानव के जीवन तथा सृष्टि की हलचल में होते हैं। मानव की चेतन शक्ति, दृश्य जगत की चेतना से मिलने के लिए व्याकुल रहती है और 'क्या' का उत्तर सब से पहले देने का प्रयत्न भी कल्पना बन कर वही करती है। अदृश्य सत्य से संबंध स्थापित करने वाली चेतना का सहायक मन है, और मन का धर्म कल्पना है, इसलिए चेतना में प्रतिफलित कल्पना, सत्य को स्पष्ट करने का प्रयत्न करती है। और इस के लिए वह प्रायः अमूर्त को मूर्त बना कर, और उस के शरीर में प्राणों का संचारण कर विचित्र लीला कर बैठती है। इस कार्य में विभिन्न उपाय काम में लाये जाते हैं। फल स्वरूप भिन्न-भिन्न कलाओं की उत्पत्ति होजाती है।

विश्व व्यापी सत्य, व्यक्त (सगुण) और अव्यक्त (निर्गुण) दोनों में अपनी सत्ता प्रकट करता है। विश्व उस का व्यक्त रूप है तो विश्व के अंदर कार्य करने वाली चेतना अव्यक्त। कल्पना जब किसी वस्तु का सहारा ले कर चलती है तब उस का स्वरूप-प्रायः स्थूल से प्रभवित होता है वस्तुओं की सूक्ष्मता के साथ उस का स्वरूप भी सूक्ष्म होता जाता है। चेतना का विशेष अवलम्बन धारण कर लेने, पर वह सूक्ष्मतम हो जाती है। सब उस का सबंध परोक्ष अन्तः शक्ति से होता है, जिस से वह समस्त वस्तुओं के मूल में व्याप्त एकत्व पहिचानने में समर्थ होती है। अनुभूति को इसी दशा में कबीर पहुँचे तो उनकी वाणी ने कहा–

लाली मेरे लाल की, जित देखूँ तित लाल।
लाली ढूँढण मैं गई, मैं भी हो गई लाल।

कल्पना स्वयं सत्य से निकल कर उसी की ओर दौड़ने का प्रयत्न करती है। इसी में उसी शान्ति प्राप्त होती है। जड़ पदार्थों से चैतन्य की ओर, चैतन्य से आनंद की ओर जाने, और आनंद से रसमय होने की प्रवृत्ति उस की होती है। कौन जाने वहाँ तक पहुँचने में कितना समय कल्पना को लगता है। इसी समय में कितने ही विश्व बन कर बिगड़ भी जाते हैं; और कितने ही मिटे हुए चित्र फिर से स्पष्ट हो जाते हैं। जीवन प्रवाह के आवर्त विवर्तों का रहस्य, कल्पना के इसी प्रयास में छिपा है। जीवन के आवर्त-विवर्तों की कथा में कल्पना की कथा स्वयं आ जाती है। और इसी कथा में मानव-समाज की सभ्यता-संस्कृति तथा कलाओं के विकास का इतिहास निहित रहता है।

हृदय का सहज स्वभाव आनंद की अनुभूति है, जो कि जीवन का रस और चेतना का तथ्य है। चेतन्य का हृदय स्वयं असीम है। वह अपनी शान्त तन्मयता में, अपने सात्विक राग में लीन हो जाना चाहता है, किन्तु बाह्य बंधन बाधा स्वरूप उपस्थित हो उसे बेचैन कर देते है। उस की यह बेचैनी पद-पद पर लक्षित होती है। जब किसी भी प्रकार किसी भी युक्ति से हृदय इस भार को सह नहीं सकता तो उस की घनी अनुभूति अनेक धाराओं, अनेक रूपों में फूट पड़ती है। अनुभूति की तीव्रता, अभिव्यक्ति का कौशल, मन की परिष्कृति, उपलब्ध साधन तथा परिस्थितियाँ इन धाराओं को जिन मार्गों से हो कर जाने के लिए बाध्य कर देती हैं वे ही मार्ग, कालान्तर में विभिन्न कलाओं की सूचना देते है। यद्यपि अस्तित्व सब में एक रहता है, सब में जीवन रस है, फिर भी उपरोक्त कारण एक कला को दूसरी कला से भिन्न कर देते हैं। किन्तु प्रत्येक कला में जीवन अपने सौन्दर्य की छाप छोड़ कर ही आगे बढ़ता है, क्यों कि जीवन, सौन्दर्य है और सौन्दर्य जीवनमय है। क्यों

सौन्दर्य, जीवन के फूल में फैला हुआ सुरभित लावण्य है। कभी विस्तृत नीलाकाश में चन्द्रमा की कोमल रश्मियों में काँपता, कभी समुद्र की उत्ताल तरंगों में, उद्दाम नृत्य करता, कभी ग्रीष्म के प्रखर ताप में नीली छाया में अलसित और कभी वसन्त के पुष्पित विकास में आनंद से अलस हो कर मंद-मंद तैरता हुआ, कभी मनुष्य की वेदना में सिसकता, कभी धर्मचक्र मुद्रा में नयनों और अधरों को निमीलित कर आनंद से है कंपित होता, सौंदर्य इन विविध रूपों में जीवन के आगे आता है। सुरभी हुई आँखों में वह फूल बन कर हँसता है और कहता है-'तुम

क्यों उदास हो ? मेरी तरह खिलो' । यौवन की मदिरा पी कर स्वच्छ शय्या पर अलसित पड़े हुए सौंदर्य के हृदय पर वह चन्द्रकिरण की तरह निःशब्द गिरता हुआ, कंम्पित अधरों से कहता है—'तुम्हे कुछ और सुख हो !' और क्षणिक सौन्दर्य से उन्मत्त मुख पर वह डूबती हुई चाँदनी की पीली प्रभा की तरह गिर कर कहता है—'मैं भी तो सुन्दर थी !' और असीम हिम प्रसार की सुन्दरता को अपने हृदय मे भर कर वह भावुक प्राणों के कानों मे गुनगुना जाता है—'सुन्दरता ने महल बनाया हिम से अपना ।'

सौंदर्य, जीवन को भावुक तथा सम्पन्न बना देता है । अभिनव तृणाकुरों से खचित धरणी, उस के अनुरूप विस्तृत नीलाकाश, मुक्त पवन प्रवाह, प्रसन्न सूर्य्य रश्मियाँ, चारु चन्द्रिका के बीच सागर की उर्मिल लहरे, नदियों की अठखेलियाँ, विकसित सुमना की सुरभि, अभिनव वासन्तीरूप, प्रेम--माधुरी, नक्षत्र-मालिकाओं का उज्वल संतरणशील सौन्दर्य एक से एक उपकरण विश्व के विराट रंग-मञ्च पर चेतना को मुग्ध करने के लिए विद्यमान है । इसी से चेतना मे निरंतर हलचल मची रहती है और परिणाम स्वरूप, प्राणों मे स्पंदन तथा जीवन में प्रवाह आता है, कलाकार में उन्मेषशालिनी प्रतिभा की स्फूर्त्ति आती है । कालिदास, रवीन्द्रनाथ और चन्द्रकुँवर को सौंदर्य प्रेम ने ही गंधर्व गान करने वाला कवि बनाया है । अजन्ता की गुफाओं की चित्रकारी, गुप्तकालीन मूर्तियाँ, मनुष्य के सौन्दर्य प्रेम से उत्पन्न हुई कलाओं की साक्षी हैं । मनुष्य का हृदय आज भी सौन्दर्य प्रेमी है, किन्तु भौतिक [illegible] की विषमताओं के कारण उस का

हृदय अपनी इस दृष्टि को खो चुका है। कम लोग हैं जिन्हों ने विषमताओं के बीच भी एक निष्ठ भाव से सुन्दरता की उपासना की है। एक निष्ठ उपासना से प्रतिभा और भावुकता का मणि कांचन संयोग किस सुंदरता से हो जाता है, चन्द्र कुँवर बर्त्वाल की कविताएँ इस बात को भली भाँति समझा देती हैं।

हिमवन्त

नीचे है गंगा, पर्वत के मस्तक पर हिम शीतल,
उर पर देवदार का वन,
जिस की छाया में छिपती-सी जाती राह सुकोमल,
छोड़ क्षीण पद चुम्बन!
हँसती है हिम के महलों के पीछे से उठ शशिनी
खोल मेघ अवगुंठन,
उठती है वसुधा के उर से मर्मर हर्ष रागिनी,
उपजा वन में कंपन!
बैठे हैं गंगा के तट पर शिला वनों में बादल,
उर में वज्र छिपा कर,
कभी कभी हँस पड़ती बिजली जाने क्यों हो चंचल,
चन्द्र-प्रभा में सुन्दर!
सुर धुनि की उजली सिकता पर, पर समेट कर अपने,
सोये मानस वासी!
गंगा की लहरें चमकातीं पल-पल मुख पर जिन के,
शुचि द्युति शशि के मुख की!

गिरती है वसुधा के अङ्गों पर अविराम गगन से,
दुग्ध--सुधा की धारा !
डूब रहा है धीरे-धीरे जिस में मेघों को ले,
शुभ्र हिमालय मारा,
हरियाली से दूर शिलाओं की विषमा धरती पर,
भूर्ज पत्र का पादप
खड़ा हुआ है, गिरी हुई है जिस के पद पर छाया,
मस्तक पर चन्द्रातप
झूल रहा है जिस की बाँहों में चंचल चित अति मारुत
धीरे धीरे सुख से
करता छाया के अधरों को मुखरित और विकंपित
मर्मर से निज मुख के
दूर किसी गिरि के शृंगों में बैठी करुण स्वरों में
विकल रो रही कुररी
आती इस गिरि पर उस की ध्वनि कभी भूल करके ही
विगत दुख की स्मृति-सी !
ये आनंद लोक के गिरि हैं, सदा जहाँ नयनों में
हँसता है हिम उज्ज्वल,
जहाँ ग्रीष्म में भी रहते हैं उग्र ज्वलनमय भास्कर---
शशि से ही प्रिय शीतल !
यहाँ कभी दूर्वा के ऊपर चले न पद मानव के
दुख शोक से चंचल !

यहाँ द्रुमों के नीचे विचरा कभी न कोई जिस का
हो मलीन अन्तस्तल
सुनी न इन पावन तरुओं ने अपनी शुचि छाहों में
मलिन वासना वाणी !

साम-गान

(१)

आर्यावर्त पिता है मेरे, गंगा मेरी माता.
यमुना मेरी बहिन पुण्य के पावन जल से स्नाता
पिता अन्न देते, माता हम को जल से नहलाती,
बहिन हाथ से हम को शीतल जल का पान कराती!
हम प्रभात होते ही माता के चरणों पर जाते
भक्ति भाव से नत हो कर के उन को शीश नवाते।
मैं न रहूँ जब जननि खेलता इस नन्दन आँगन में
मुझे छिपा लेना तुम अपने शोकोद्वेलित तन में !

(२)

हमें पिता के गुण का गौरव, माता की पवित्रता का
और बहिन के स्वर का, जिस में गीता स्वर लहराता !
सभ्य पिता माता के सुत बन हम इस जग में आये,
सफल हमारा जन्म राम की मातृ-भूमि में जाये,
कृष्ण-मोहिनी छाया हम को भी वे ही कदम्ब देते,
बुद्धदेव के प्रिय पीपल हम को लख कर भी हिलते !
धन्य-धन्य हम को भी उस ही जननी ने जाया

जिस की गोदी में बालक बन कर निराकार था आया !

हिमशृंग

स्वच्छ केश रिषि ये अंजलियाँ भर कमलों से,
गिरि शृंगों पर चढ़ उदयमान दिन कर का
उपस्थान करते हैं मृदु गंभीर स्वरों मे,
स्निग्ध-हँसी की किरणें फूट रहीं जग भर में,
पुण्य नाद साँसों का पुलकित कर विपिनों को
मुखर खगों को, जगा रहा गृह-गृह में निद्रा से
निश्चेष्ट पड़ी आत्मा को, मुक्त कर रहा
तिमिर रुद्ध जीवन के पृथ्वीमय प्रवाह को !
द्वार खुल गये अब भवनों के, शून्य पथों में,
शून्य घाटियों में सरिता के शून्य तटों पर,
जाग उठीं जीवन-समुद्र की मुखर तरंगें
पृथ्वी के शैलों पर, पृथ्वी के विपिनों पर,
पृथ्वी की नदियों पर, पड़ी स्वर्ण की छाया,
उदित हुए दिन कर इन की पूजा से घिर कर !

हिम-प्रात

पृथ्वी जगी, हुआ चीड़ों में गुंजित मर्मर,
डोली पवन, कँपे छाया के अंग मनोहर !
जगे विहग, पंखों से आलस हिला डुला कर,
नोच नोच निद्रा, रह-रह कूजन कर सुंदर,
उठे जुगाली करते पशु, उन के कंठों की-

मंजु घंटियों से मुखरित निर्जन वनस्थली !
फिर हो गई, उठे ग्वाले, मृदु मुरली के स्वर,
लगे गुञ्जाने फिर गिरि के पथ निर्जन सुंदर !

हिमवान

मेघों के बंधन में बँधे हुए हिमवान हे महादेवता !
पुण्यस्तोया भागीरथी श्री चरणों में दासी विनता !

हिम-स्तवक

हे मेघों के महा मित्र, हिम-पुंज शिलामय !
सविता के प्रकाश के मंदिर सूर्य्य कांतमय !
उषा कान्त हे वसुधा के प्रिय प्रात शरीरी !
हे पर्वत अधिराज देव ! हे द्यो पिता के प्रहरी !
संध्या के गुलाब के बन ! रजनी के दीपक !
वसुधा के उर पर फूले हे हिम स्तवक !
हे शशि के एकान्तवास से पावन गिरिवर !
नमस्कार तुम को शतवार, चिर युवा सुन्दर ?

११ जनवरी १९३८ ई०

हिम-छाया

पड़ी देश पर मेरे हरित तुम्हारी छाया !
मेरे विपिनों में उज्ज्वल गर्जन कर आया.
हास तुम्हारा, स्नेह तुम्हारा, हृदय तुम्हारा !
मेरी धरती को प्यासी ही छोड़ गगन में,
दौड़ रहे मेघों को तुम ने दृढ़ हाथों से

रोक, सहस्रों मधुर स्वरों में अमृत उन का
शुष्क हृदय पर मेरी धरती के बरसाया,
कृषक जोतते खेतों को घाटी घाटी में,
कृषक नारियाँ गाती-गाती काट रही हैं
खेतों खेतों की पीली शोभा, तरु-तरु पर
रस संचित करते फल, बन-बन में चरती हैं
पशुओं की टोलियाँ, कूकते सुन्दर पंछी,
आँखों में करुणा होंठों में हँसी मनोहर,
भरे देखते तुम मेघों के पीछे छिप कर
सुखी धरा को, सुनते प्रतिपल पुलकित हो कर,
गृह गृह से, बन बन से उठती हर्षित ध्वनियाँ !

रैमासी

कैलाशों पर उगते ऊपर, राई-मासी के दिव्य फूल,
माँ गिरिजा दिन भर चुन जिन से भरतीं अपना पावन दुकूल
मेरी आँखों में आये वे राई मासी के दिव्य फूल !
मैं भूल गया इस पृथ्वी को, मैं अपने को भी गया भूल,
पावनी सुधा के स्रोतों से, उठते हैं जिन के अरुण मूल,
मेरी आँखों में आये वे राई-मासी के दिव्य फूल,
मैं ने देखा थे महादेव बैठे हिमगिर पर दूर्वा पर,
डमरू था मौन, भूमि पर गड़ था चमक रहा उज्ज्वल त्रिशूल,
सहसा आईं गिरिजा बोलीं, मैं लाई नाथ अमूल्य भेंट,
हँस कर देखे शंकर ने, वे राई-मासी के दिव्य फूल,

मैं भूल गया इस पृथ्वी को, मैं अपने को भी गया भूल।

सूरजमुखी

वह सूरज की ओर देखती चिर-तपस्विनी,
खड़ी हुई है शान्त भाव से स्थल की नलिनी,
चिर प्रसन्न मुख कहीं न जिस पर दुख की छाया,
अश्रु सिक्त अंजलि-सी धरणी की शुचि काया,
रवि से बिछुड़ी एक किरण-सी खड़ी धरा पर,
जलती पूजा के प्रदीप की लौ-सी सुन्दर,
वह रवि-मुख की तृषित चकोरी दिनभर हँसती;
प्रिय का दर्शन पीती रहती कभी न थकती,
वह सूरज की धीर अनुचरी रह भू पर ही,
नयनों से ही निज प्रिय का अनंत पथ चलती,
सूरज उतर रहे अस्ताचल के शिखरों पर;
खड़ी हुई है वह पीली किरणों से घिर कर,
लौटेंगी जो किरणें फिर निज सूर्य्य लोक को,
निज संदेशों से सुरभित करती है उन को,
वह उपवन में फूली सूरजमुखी अकेली।

वसन्त

रितुओं के माया--जग में बस, सौन्दर्य लता-तल पर सालस,
गढ़ता बसन्त था वह मुरली, खिल उठती जिस से कली-कली ;
जिस की प्रति ध्वनि कोकिल के उर से रो-रो कर आती निशि भर
गढ़ता वसन्त था वह मुरली, छबि छाया में उजली पतली ;

मेघों के नीले वसन पहने, धारे विद्युत द्युति के गहने
कटि-तट पर इन्द्रधनुष झलमल, शिर पर रेशम का मृदु बादल,
आँखों में भर मदिरा श्यामल, आई बरसा सुन्दरी नवल,
सुन कर नूपुर का छल-छल स्वर, देखा वसन्त ने फिर हँस कर।

ग्रीष्म

तपो ग्रीष्म, आग हूँसो, पीड़ित संसार करो!
झरनों को शुष्क करो, नदियों का नीर हरो!
ज्वाला बरसा कराल, क्षुब्ध तुम समुद्र करो!
पत्रों का हृदय सोख, वृक्षों को चूम-चूम,
हे विराट! शैलों को, ज्वाला से भस्म करो!

वर्षा

जग का ताप शान्त करने को उमड़ उमड़ वर्षा आई!
दिशा दिशा से उठ उठ कर मंगल की बदली लहराई!
उड़ी पवन.काँपे द्रुम पल्लव हुआ गगन में मधुर मधुर रव,
चौंकी चपला–दिशा दिशा से मधुर झड़ी झर आई!
आर्द्र पल्लवों ने जीवन की सजल रागिनी गाई,
खोले दूर्वा ने निज लोचन हुए हरे मुरझे किसलय वन,
सरिता ने अँजलियाँ भर भर अपनी तृषा बुझाई!
दिशा दिशा से जीवन की कल ध्वनियाँ पड़ी सुनाई,
कहीं झर रहे हैं नव निर्झर कहीं उड़ रहे विहग मनोहर,
कहीं भरे आँसू पलकों में, कहीं कोंपले उग आईं!

बैठ कहीं ग्वाले ने अपनी मुरली मधुर बजाई!
हरी भरी करने को धरती उमड़ उमड़ वर्षा आई !

कफ्फू

भीगा है अभी अन्न--गर्भा भू का रजत निर्मित अंचल,
आतीं निरभ्र नभ में हँसती, किरणें मोचित करने दृग जल !
झरता है गिरि के अंचल से गद् गद् करता धूमिल निर्झर
अपने वर्षा वैभव सम्मुख अब दीन और कृश तनु हो कर !

खो गई आज पथ ही पथ में कल की उमड़ी दुर्द्धर्ष नदी,
रह गई शेष क्षत रेखा-सी, बन्धुर पाषाणी शय्या ही,
कनकाचल से कंचन निर्झर गिरता फैल गिरि-पद तल पर,
कितनी कविता बरसी भू पर! कितने उग आये हैं अंकुर !

गीतों का फैला दूं अंचल, सुषमा समेटने क्षण भंगुर !
उस विश्व हृदय के गीतों को ले कर कूके जब तुम भू पर,
मैं ने भौंहों में छिपा लिया, अपने गीतों को हे सुन्दर !
खेतों में गाती कामिनियों ने रोके अपने अरुणाधर !

मारे तेरे तन के ऊपर कस कर सुरभित कुसुमों के सर !
गिरि के अगणित गह्वर दल से दुहराता तेरा स्वर निर्झर !

निर्जन ही समझ धरातल को, पतली बाँहों में बाहें भर
नाची वह ताल ताल पर झुक, परियाँ दुहराती तेरा स्वर !

जुड़ गई आह ! क्या आज धरा, टूटे उस अमर स्वर्ग से ?
चिर विस्मृत इस जीवन बन में क्या बंशी के मृदु स्वर बरसे ?
हो कर विलीन निज गीतों में तुम चले गये हे चिर सुन्दर !
क्या कह कर तुम्हें पुकारूँ हे नन्दन वन के स्वर सुन्दर !

मैं ने जो नाम दिया तुम को अपनी जीवन गत भाषा में,
वह कैसे तुम्हें मान्य होगा ! अगणित भाषाएँ हैं जग में!
पर जब तुम आते चिर नूतन गीतों का मंगल घट ले कर,
बन जाता यह क्षण भंगुर जग भी सुन्दर स्वर्ग अमर !

बीदो[1] हिमालय

गये मेघ वर्षा के अम्बर से हिमगिरि के—
हिम-जल से गम्भीर किनारे कर सरि सरि के ,
हँसे सूर्य फिर, पर्वत पुंज अनेक पार कर,
हँसता जैसे पथिक सुख भरे गृह में आ कर
हिम गिरि के शिखरों पर हिम की रेखा पतली
शेष रही अब, और कगारों में कुछ निचली--

---

[1] विशेष रूप में द्यो (दिवि=आकाश, प्रकाश) जब आया हो; वर्षा के बाद का प्रसन्न प्रकाश युक्त आकाश ; ऐसे प्रकाश में हिमालय की शोभा इस कविता में दर्शाई गई है ।

और गई रेखाएँ हिम की—बाकी नीला,
हिम-विहीन है इन्द्रनील मणियों का टीला,
सोह रहा है आज हिमालय शान्त मेघ-सा,
जिस में जम कर नील हुई हो उज्ज्वल बरसा;
तट रेखाएँ जिस की दीप्त हँसी से उजली,
करती हो पीछे छिप कौंध-कौंध कर बिजली

प्रत्यूषी हिमालय

पड़ी रात, सपनों से भरी गगन की पलकें,
नव बसन्त में ज्यों माधवी-लता की अलकें
भर भर जाती हैं मुकुलों से औ, फूलों से!
उड़ी प्रभा दिन की खेतों से सरि-कूलों से;
देवदारु के नील वनों से शैल छोड़ कर
लक्ष्मी-हीन प्रकाश-हीन हर्म्यों-से भू पर;
एक हिमालय ही वह सहसा छोड़ न पाई!
पहले हुई अरुण लज्जा-सी, फिर सुधि आई
उसे कौन सी! और पड़ी पीली वह सहसा
किसी तरह हो! विदा गई जब रवि-वश-विवशा,
उस की पीली छाया हिमगिरि पर रजनी भर
छाई रही—विरह में प्रिय छवि-सी आँखों पर,

शरद-लक्ष्मी

भरा शरद-लक्ष्मी के हंसो-से अब अम्बर
गिरे व्योम से किरणों के निकुंज धरणी पर—

जहाँ डोलते हैं हिम-श्वेत वसन धारण कर--
कुमुद-सरों, में और शेष सारी पृथ्वी पर
शरद-हास विकसित कासों का फैला सुन्दर!
विहग परों से करते हैं रव-मधुर सरोवर!
सीमा में है आई उतर कलंक छोड़ कर
वर्षा की मर्यादाहीन नदी पग पग कर;
होने लगे धान खेतों में पक कर पीले
बने रसों से नभ के, भू के फल सुरसीले!
स्वच्छ चन्द्रिका में, उज्ज्वल फूलों के वन में,
सरि-पुलिनों पर, लहरों की कोमल कम्पन में
अब सर्वत्र सुनाई देते मुग्ध मनोहर
प्रेम भरी हँसियों के ऊज्ज्वल और मधुर स्वर!

शरद गान

शरद सूर्य के सोने के द्वारों के आगे,
पके धानों की निश्चल शोभा में डूबी,
फूलों से अंजलि भर, निर्मल नयन उठाए,
गान कर रही है पृथ्वी मृदु मंद स्वरों में!

संध्या-पवन

सोने की रेखाओं से घिर गए दिवाकर,
पश्चिम में लहराया घन परिमल का सागर,
केसर से भर गये मेघ, केसर में सन कर
लगी उमड़ने नभ से संध्या पवन मनोहर!

मनोज्ञ कमल

आकर्ण तान धनु सूरज ने जल देव वरुण पर अग्निबाण
छोड़े हँस, वे चुपचाप गये देने उन को पीड़ा महान्
जलदेव ने सही व्यथा चुभे उन बाणों की, हँस हँसी तरल,
अपने महलों की बापी से चुन वर्ण-वर्ण के फुल्ल कमल,
सप्रेम वरुण ने सूरज के चरणों पर उन्हें किया अर्पण,
वे वर्ण-वर्ण के कमल उड़े छूने, पूषण के पूत चरण!
वे रहे उमड़ते घन नीले, काले, सु श्वेत, अमिताभ्र कमल;
उन कमलों से भर गया गगन, खो गया सूर्य औ' अंबर तल!
फैला वसुधा में कमलों के पंखों का घोष मधुर कोमल!
वह उठी धरा के अधरों पर सहसा ही पवन मंद शीतल!
रवि के चरणों को चूम, गिरे वे कमल वारि कण बन भू-पर,
फिर सिमट-सिमट, झरने सरि बन, वह चले मनोहर कल-कल कर!
वे बहे और हो गये लीन, उस बापी के जल में जा कर,
जिस में कुछ ही दिन पहिले थे वे खड़े, मनोज्ञ कमल बन कर!

शरद-हेमन्त

वर्षा भी बीती, बनान्त में थे निश्चल फैले
कासों का उज्ज्वल-सागर भी सूखा धीरे!
शरद काल की मधुर हवाओं के समूह में
अब मिल गई एक दो शीत शिशिर की पवनें
कभी अचानक संध्या को, अथवा प्रभात को,

काँपा हृदय, जो सहसा ही चुपचाप शरद की—
स्निग्ध चाँदनी में खो जातीं धीरे धीरे
धूप हो रही है करुणा से निर्मल कोमल
चले जा रहे हैं दिन, आसमान में पल पल
क्षीण क्षीण होती जाती है शशि की शोभा
पृथ्वी से आनन्द उड़ रहे आ उस दिन तो
लेटे रहे दूब पर हम, मृदु चरण गगन में
चलती हुई चाँदनी को चुपचाप देखते
आज गगन में अंधकार है, शून्य पथों पर
गूंज रही है पवन. पत्र हैं मर्मर करते!

हेमन्त-प्रात

द्वार खोल गृह के, किरणों से आँगन भर,
बैठा यह हेमन्त प्रात, नीरव पृथ्वी पर!
नयन मूँद रवि की कोमल किरणों से तपता,
आने वाले प्रिय वसन्त के स्वप्न देखता,
जब उसके आगे चुपचाप खड़े वृक्षों पर,
भर आयेंगे पल्लव, गुञ्जित होगा मर्मर,
जब उसकी बंशी उसके अधरों से लग कर,
भर देगी पुलकों की लहरों से पवनों को,
कर देगी रितु—स्पर्शों से सुन्दर किरणों को,
शशि जीवित हो जावेगा, उज्ज्वल अम्बर में,
मधुर हँसी की किरणें फैलेंगी जग भर में,

और जगा देंगी जग भर के मृदु स्वप्नों को ;
सोच रहा था वह, उसके दुर्बल हाथों पर,
लटक रहे थे चूर-चूर हो घन-घन आँसू,
उस के क्षीण पीत निष्प्रभ अंगों के ऊपर,
मरती थी छवि ज्योत्स्ना ठंडी आहें भर,
केशों पर, बिखरे केशों पर, गिरे हुए थे,
पीले पल्लव, था सब ओर उमड़ता सूनी
निठुर मृत्यु का प्रबल वेग से बढ़ता मर्मर,
पड़ी हुई उस की बंशी नीरव धरणी पर !

अभी मरण की

अभी मरण की छाँह न पड़ने दो जीवन में,
अभी प्रलय की बाढ़ न घुसने दो तन-मन में ;
कौन जानता रही अभी भी हो कुछ आशा,
अभी न इतने आँसू भरो दुखी चितवन में !

मुक्त होगी

मुक्त होगी मुक्ति दायिनि, मुक्त होगी कंठ वासिनि
प्रेम वाणी इस हृदय की!
आज तक थी घिरी मेघों की घटा से शशि-मुखी
आज तक था उर दुखी !
अब न नभ में घन घिरेंगे, अब न बादल अमृत-रस पी
शून्य शशि मुख को करेंगे !
अब हँसेगा गगन-सा मन, अब खिलेगा पवन-सा तन

मधुर निर्झर ये झरेंगे !
अब हँसेगी अमृत रस से पूर्ण वाणी, शशि-मुखी-सी
कर धरा पर अमृत वर्षण !
आज तक था जो भिखारी वह नहीं भिक्षुक रहेगा !

हंस-माला

मृत्यु का भय अब नहीं मुझ को रहा,
मिल गई मुझ को प्रिये, स्वर की सुधा !
देख ये निर्मल नयन जल से भरे,
स्वर्ग का अनुमान कुछ होता मुझे,
उड़ाती मुझ को हँसी की हंस-माला
कौन जाने किस निराले लोक में !
आह ! यह कैसा सुशीतल स्पर्श है
स्वर्ग अब ! पशती हृदय में है सुधा !

हिम-चाँदनी

हिम-शय्या पर सोई शशिनी चंपक वरणी
चली गई उस सोई को तज शशि की तरणी
नील गगन के किन द्वीपों की ओर काँपती
राज--हंसिनी-सी सुकुमार निशा में उड़ती—
रही चाँदनी पड़ी हुई हिम की शय्या पर,
रही देखती तारों से शत स्वप्न मधुरतर
गाती रही साथ परियों के गुफा द्वार पर,
रही नाचती किन्नरियों की छाया बन कर,

भोज-पत्र के बन में खड़ा हुआ था किन्नर
गिरी चाँदनी हिम में फिसल उसी के ऊपर !
और चूम मुख हँस वह, दौड़ गई लहरी-सी
वह हँसती ही रही पद्मिनी सी लहरों पर,
ले सुवर्ण बालुका बनाती परियों के घर
उस में बुला बसाती परियाँ, सब से सुन्दर,
घाटी से ऊपर उठती फिर धीरे धीरे।
स्वप्न देखती थी तारों से अगणित सुन्दर
शशि की वह प्रकाश छाया हिम की शय्या पर
लगे डूबने सहसा शशि प्रभात सागर में,
लगे खिसकने स्वप्न चाँदनी के नयनों से,-
उठी चाँदनी, उर पर शशि का हाथ न पा कर
डूब चुके थे शशि, वह मरी उसी शय्या पर !

अलकनंदा

बही जा रही उसी नदी की यौवन भरी तरंगे !
गाओ, हे अनंत तक गाने वाली भरने वही उमंगे
लहरों के इस प्यासे तट पर एक रात में आ कर
लाया था शशि मुख छाया में अपनी प्यासी गागर,
लहरों में लिपटी आई तुम इस छोटे उर में बसने
वैसा ही फिर हे बन-बासिनि लहरों में घिर आओ,
गिरि चढ़ने से श्रान्त पथिक को फिर जल गीत सुनाओ!

आकाश

जग के सुख दुख उच्छ्वास-हास,
सब तुम में होते बिलीन,
तुम लेते सब बन निर्विकार,
हे महाकाश ! तट-तीर-हीन
हे गूढ़ चिरन्तन ! चिर अभेद्य !
भटके जिस में तारे अनंत !
डूबे कितने रवि, गृह, उपगृह
खोए जग के कितने वसन्त !
हैं तुम में छिपे हुए कितने
स्वप्नों के प्रिय नक्षत्र लोक,
जिन में करते सुर-गण विहार,
चिर युवा अभय नित बीत शोक !
बज उठती वीणा कहीं मधुर !
चंचला नृत्य करती सुन्दर !
मेघों में बजते मृदु मृदंग,
उठती वर्षा की एक लहर;
निस्तब्ध रात्रि में कभी-कहीं
निःशब्द शेष की शय्या पर;
लेटे रहते हैं विष्णु और
लक्ष्मी झलती चामर सुन्दर !

लक्ष्मी

करों में ले स्नेह दीपक, खड़े हैं प्रासाद अपलक,
सिन्धु की चित्रित तरंगों से लिए मणि हार उज्ज्वल!
ज्योति के निज अंग कोमल, खिला नभ में चन्द्र शीतल
करो विकसित कोष गृह में, चन्द्रिका ज्यों कुमुद के दल!
हेम की द्युति-सा ललित, नीलमों से नील लोचन
अधर विद्रुम और मुक्ता चूर्ण से मद लोल कुन्तल
हीरकों-सा हास उज्ज्वल, पद्म-श्री-सा कान्त निर्मल
जगमगाता देह में है रत्न-रंजित रश्मि अंचल!

विराट् प्रकृति में मानव एक अणु की भाँति है। प्रकृति से मनुष्य जब अपने प्राणों की कथा सुनने लगता है तब उसे परम शान्ति मिलती है। अपने हृदय की कहानी भी प्रकृति से वह कहता है। अपनी कहानी कहते ही वह कलाकार बन गया, और उस ने प्रकृति के सौन्दर्य में अपनी सृष्टि को प्रस्तुत किया। जब तक सामजस्य रहा दोनों सुखी रहे। संबन्ध विच्छेद होने पर भीषणता आ गई।

मनुष्य को जिस मूर्त रूप से आसानी से आनंद प्राप्त होता है उसी को वह सुन्दर देखता है, मन उसी की सराहना करता है। मन के संस्कारों के अनुरूप, व्यक्ति-व्यक्ति के सौन्दर्य के दृष्टि कोण भी भिन्न-भिन्न होते हैं। किन्तु उन में एक प्रकार से समानता भी होती है। यह समानता जीवन की चेतना की होती है। अपने सौन्दर्य के पैमानों के आधार पर मनुष्य अपनी प्रति दिन की चीजों को उपादेयता के साथ ही सुन्दरता से भी युक्त करता है। संस्कार, अभ्यास, प्रयोग,

शिक्षा तथा व्यवहार, भी बदलते है। उपयोग में आने वाली चीजों का परिवर्तन भी इस का कारण हो सकता है। इस लिए सौन्दर्य-भावना में भी परिवर्तन किया जा सकता है। व्यक्ति, परिवार, समुदाय, जाति तथा देश से ले कर विश्व सृष्टि तथा ब्रह्मांड तक सौन्दर्य की भावना का विस्तार हो सकता है। वह लघु कोमल, स्निग्ध, करुण ही नहीं—भीषण, रूक्ष और अद्भुत विराट भाव चित्रों को अपना रंग दे सकता है। कालिदास और रवीन्द्रनाथ यदि कोमल सौन्दर्य के विराट कवि है तो वाल्मीकि, व्यास, भास, अश्वघोष भवभूति, चन्दवरदाय, भूषण, जयशंकर प्रसाद और चन्द्र कुंवर बर्त्वाल ने भीषण सौन्दर्य के भी दर्शन किये है। भीषणता के भव्य चित्र भी चन्द्रकुंवर की सौन्दर्य भावना के विस्तार को बतला रहे है, इन मे प्रकृति और पुरुष, स्निग्ध और भयंकर भाव एक साथ मिल कर सौन्दर्य की सृष्टि करते है और हृदय पर अपने अमिट प्रभाव को छोड़े बिना नहीं रहते। जाग्रत आत्मा की विराट शक्ति से शब्दों में भी ओजस्विता आ गई है—

भीषण-सुन्दरता

फैला चारों ओर सघन हिम का जड़ सागर,
लहर प्रकंपन हीन, हीन वेला, स्वर गर्जन,
चन्द्र--लोक पर का-सा फैल रहा सूनापन,
मंडराते हिम-भरी घाटियों में उन्मद घन.
शिखरों से हिम निचली ओर सवेग फिसलता.
जिस से आहत होकर पृथ्वी रोती हिलती.

गुफा-गुफा से निकल सगर्जन हिम की नदियाँ
उठा रही हैं गिरि में एक तुमुल कोलाहल;
तांडव-नृत्य-कला-सी नाच रही शिखरों पर,
पवन उड़ रहा निज बर्फानी गुफा नीड़ से,
तीव्र बाज-सा, पंजों में विदीर्ण करता बन,
झपट रहा नागिनी-सी मुड़ी हुई नदियों पर,
मोर पंख फैलाये देवदारु के बन पर,
काँपा रहा धरणी धर रोष भरे पंखों से,
मृत्यु संचरण करती, इन सूने शिखरों से,
झुक कर नीचे देख रही गिरि की गहराई,
जहाँ पहाड़ों में पिचकी सरिता रोषीली,
गरल उगलती है मुख से, पत्थर पर टकरा,
कभी चढ़ रही बर्फीले हिम शिखरों पर;
कुत्ते-सा दौड़ता पवन है पीछे-पीछे
जिस के पास अमृत की कुछ बूँदें रक्षित हैं,
पी कर बनने अमर फिर रही मौत भयंकर,
खोज रही सुन्दरता को गिरि के शिखरों पर!

अट्टहास

सहसा ही गंभीर हुआ उस का मुख, भौंहों,
में काले बादल घिर आये, लगीं चमकने
तीक्ष्ण बिजलियाँ, अट्टहास कर उठे अचानक,
निज कराल दंष्ट्राएँ खोल वज्र दुर्दर्शन,

ढका क्रोध से वह अपने ही धूम्र--जाल के
नीचे दावानल-सा महाप्रलय को उठता,
उत्तर से घन घोर पवन उन्मत्त हो लगी
उसके अन्धकार को चारों ओर उड़ाने!
घिरा गगन, ढक गये सूर्य्य, पृथ्वी चिंतित हो
बैठ सघन छाया में, त्रस्त भाव से उस को
लगी देखने, मयपुर की दानव लक्ष्मी-सी,
महादेव ने अट्टहास कर, कॉप क्रोध से
फेला घोर जटा, चमका त्रिशूल हाथों में,
जब उस पर थी डाली महानाश की छाया।

हाँ हाँ यही

हिमगिरि के शिखरों पर चढ़कर मैं ने देखा—
दौड रही थी दूर, समुद, गंगा की रेखा,
मृदु कलरव करती, पुष्पित पुलिनों के भीतर,
मधु-धारा-सी, शान्त तितलियों से घिर सुन्दर!
हरियाली से घिरे ग्राम उठ कर फूलों में,
देख रहे थे, जल की छवि फूली कूलों में,
सुनते थे विमुग्ध हो, मृदु लहरों का कूजन;
मैंने देखे नगर, व्यस्त हो जिन में जीवन
दौड़ रहा था उड़ते हुए समय के पीछे;
और कहीं चुपचाप किसी छाया के नीचे
पड़ी हुई ग्वालिन कोई मद अलस दृगों से

देख रही थी नील गगन में दल मेघों के;
मेरे पुण्य देश की एक झलक यह सुन्दर
बसी रहे हे प्रभु ; इन आँखों में जीवन भर !

(२)

किन्तु दूसरे ही क्षण, विस्मित मैं ने देखा—
गंगा नहीं--नहीं वह तो थी दुख की रेखा,
थे श्री हीन पुलिन, सिर धर सूनी सिकता पर
मेरी मातृ भूमि थी रोती पीड़ित होकर !
अंधकार, अज्ञान, द्वेष, हिंसा से जलते
ग्राम और पुर थे ; मारुत में अहरह चलते
थे मलीन धूम्या के झोंके प्रलय घनों से,
'हा-हा' रव उठता था नगरों और बनों से !
विकृत-वेश, हाथों में लेकर सूखे खप्पर
नाच रहीं थीं नग्न नारियाँ विस्वर हँस कर !
नगरों में, ग्रामों में चारों ओर खड़े थे
क्षीण युवक, छायाओं में छिपते प्रेतों से !
'यही देश है मेरा ?' मैंने पूछा रो कर !
'हाँ हाँ, यही यही' बोला कोई हँस-हँस कर !

प्रकाश—हास

किस प्रकास का हास तुम्हारे मुख पर छाया ?
तरुण तपस्वी तुम ने किस का दर्शन पाया ?
सुख-दुख में हँसना ही किस ने तुम्हें सिखाया ?

किस ने छू कर तुम्हें स्वच्छ निष्पाप बनाया ?
फैला चारों ओर तुम्हारे घन सूनापन,
सूने पर्वत चारों ओर खड़े, सूने घन
विचर रहे सूने नभ में, पर तुम हँस-हँस कर
जाने किस से सदा बोलते अपने भीतर !
उमड़ रहा गिरि-गिरि से प्रबल वेग से झर-झर
वह आनन्द तुम्हारा करता शब्द मनोहर,
करता ध्वनित घाटियों को, धरती को उर्वर
करता स्वर्ग धरा को निज चरणों से छू कर,
तुम ने कहाँ हृदय ! हृदय में सुधा स्रोत वह पाया ?
किस प्रकाश का हास तुम्हारे मुख पर छाया ?

हे वक्र दन्त !

क्रूर काल के हे वक्र दन्त ! होता आशा का हाय अन्त !
खेल न पाया इन प्राणों से थोड़ा भी मधुर-मधुर वसंत !
आये जगती के तीन ताप, करने को मेरी हृदय-माप !
बढ़ चला हृदय उठ गई श्वास, यह पलक झँपी या करुण त्रास
कुछ कह न सका सुनकर निनाद, लख विश्व व्यथित पाया विषाद
आई मधुमय सरिता हिलोर, बस भीगी हे नयन कोर !
इस मूक रुदन में मैं अजान, सुनता उत्पीड़ित व्यथित गान !
अलसित चलती धोमी बयार, करुणा से भीगे हृदय-तार !
हृद, वीणा से मिल वह अजान, करती है नर्तन सुना गान,
खिंच जाते मेरे करुण-प्राण, रो पड़ती आँखें धरे ध्यान !
वीणा भी अब बन गई मूक, चुप रहो, आज मेरा दुलार

करने को मेरे हृदय टूक, करता निज पंखों का प्रसार !
मेरी आशा का यही शेष, पाया निर्जन ध्वंसावशेष
करुणा-विगलित जीवन-प्रवाह, तेरी होवे अब यही राह !

मृग-मरीचिका

यदि ऐसा ही शोकाकुल था, प्रभु मेरे जीवन का अन्त,
विटप-वल्लरी में आकर, खेल गया क्यों नि ठुर वसन्त ?
होना था मुखरित लाली का, वह नीरव काला अवसान,
विहगों ने गाये थे फिर क्यों, प्रमुदित होकर मंगल-गान !
यदि वह इन्द्र-धनुष केवल था भ्रम, नयनों का जीवन का,
यदि आँसू का वाष्प रूप ही, सजल श्याम वह घन था,
तो माया रूप कौन था ? किस ने मुझे लुभाया ?
क्षण भर को प्राणों पर डाली वह सतरंगी छाया !
दो ही दिन बस दो ही दिन का वह हँसना इठलाना,
दो ही दिन का वह प्रमोद, फिर सौरभ का उड़ जाना,
भरी हुई मधु की प्याली का ढलक रिक्त हो जाना,
सर्वनाश का भीषणता ला, मेरे गीत चुराना !
पलकों पर सोने से सुन्दर सपनों की वह क्रीड़ा,
फिर न लौट सकने वाली, वह गई प्राण की व्रीड़ा !
सपना हा वह गगन चुम्बी, कंचन महल बनाना,
और वहीं सारे विभवों का, एक-एक कर आना !
सोने के महलों का राजा, रूप-परी वह रानी,
कानन-क्रीड़ा स्वप्नित हो रहे, हिम का पीना पानी !

पहिन कुसुंभी वस्त्र झूलती, नव वसन्त में रानी,
और गर्व से कुसुम प्रजा को, लखता मैं अभिमानी!
देख रहा था मैं प्रभात में, एक दिव्य 'छवि' आकुल रूप,
जो [illegible] चित्रकार ने, खींचा था मेरे अनुरूप;
किंतु आह! उस दिन से ही, बदल गया यह सारा संसार,
मेरी मधुर भावनाएँ वे, आज बन गई प्रभुवर क्षार।
नीरवता में छिपता-सा जाता, जब यह कलरवमय संसार,
तब सोचा था देव, रचाऊँगा, नीले नभ में अभिसार।
पर किसका नीला नभ! किस की रानी! किसका वह अभिसार,
वही अँधेरी रात! बहाना, अश्रु रूप में अपना प्यार।
क्या सोचा था जीवनादि में, आशा किरण जाल में मुग्ध,
इति में प्रभु मेरे जीवन की, हुई दुराशाएँ क्यों लब्ध।
यदि ऐसा ही होना था प्रभु, मेरे जीवन का अवसान,
क्यों न हो लिये तुमने मेरे, नव वसन्त में प्रमुदित प्राण।

ख्वीली-घाम

[illegible] अंतिम धूप ख्वीली-घाम कहलाती है। उस से रात का जन्म होता है ऊषा वेला रवि को जन्म देने के कारण विहान कही जाती है। हिमवंत में जन विश्वास है कि जो आसन्न प्रसवा प्रसव के समय मर जाती है वह अंधकार के लोक से अपने शिशु-सहित इस समय धूप सेकने पृथ्वी पर आ जाती है और धूप के उड़ जाने पर वह भी कहीं लीन हो जाती है।

पतझड़ की संध्या थी, सूरज डूब चुके थे,
पक्षी अपने लुटे द्रुमों को लौट चुके थे,
धुँधली आभा थी गिरि के शिखरों पर छाई
कुछ कुछ देते थे बन के कंकाल दिखाई,
बैठी थी निस्तब्ध वृक्ष पर विहगी दीना,
छाया थी तम में विलीन हो रही मलीना,
जो कि खोजने पर ही पड़ती थी दिखलाई,
मिटती थी आभा गिर के शिखरों पर छाई,
यह पतझड़ की साँझ और यह गिरि का कोना,
यह धीरे धीरे प्रकाश का तम में खोना!
लख दिनान्त धरती का तारा हीन गगन से,
यह प्रकाश माँगना, मलिन धूसर चितवन से,
यह चर-अचर विहीन प्रलय का-सा सूनापन,
रुला रहा है बरबस जीवित जन का जीवन!
दूर किसी घाटी में सौ-सौ दुख सहता सोता,
मेरे मन-सा ही तम में एक रुक कर बहता!
खड़ा हुआ था मैं टूटे पत्रों के ऊपर,
एक हाथ से तरु की नंगी शाख पकड़ कर,
उस गिरि पर उस संध्या को था मैं एकाकी,
मेरा साथी कौन रह गया था अब बाकी!
देख रहा था मैं जीवन के भूले सपने,
जब न हुए थे दिन इतने एकाकी सने!

सोच रहा था मैं इतने में पत्र कराहे,
किस ने इन टूटे पत्रों पर चरण चलाए ?
क्या मुझ-सा ही कोई और दुखी है जग में ?
मुझ-सा ही खोया एकाकी जग के मग में !
जिस को सूने शिखरों पर है भाता है फिरना,
अपनी कठिन व्यथा जग से हट कर के सहना !
जो काँटों के करता आलिंगन रो-रो कर,
उन्हें मरे कुसुमों का स्नेही मित्र समझ कर !
क्या मुझ-सा ही कोई ऐसा, बन में आया ?
सोच यही मेरा मन, कुछ उत्सुक हो आया !
मृत पत्रों का देश आह ! यह जिस के ऊपर,
यह प्रकाश की छाया मरती है रुक-रुक कर !
पतझड़ के विशीर्ण वृक्षों का यह मरघट है,
कंकालों से भरा हुआ दुष्प्रेक्ष्य विकट है !
इस मृतकों के देश, कौन तज करके जीवन,
जीवन के सुख-दुख के हँसते-रोते चुम्बन !
आया है उपचार-विहीन व्यथा सहने को,
डूबा है चिर तम में फिर न कभी उठने को !
वह धुँधली छाया चलती धीरे दुखिया-सी,
जीवन—गंगा तट से लौट रही प्यासी ही !
जहाँ जहाँ पग धरती वह चलने को अपने,
वहाँ वहाँ से क्रन्दन के स्वर लगते उठने !

वह मेरी ही ओर आ रही दुख में लिपटी,
जली हुई धूम्रावशेष ज्यों प्रेम की कुटी!
वह मेरी ही ओर आ रही मुझे देख कर,
यह लो ठहर गई वह साश्चर्य वहीं पर!
पुलकित-सी हो वह मेरे पास आ गयी,
यह क्या? मेरे मन की यह कैसी दशा हुई!
वह मलीन वस्त्रों में लिपटी पीली पतली,
अस्तोन्मुख शशि के नयनों की क्षीण झलक-सी!
केश-पाश बिखराए मुख पर, निज हाथों में,
झरे फूल-सा एक सुकोमल बालक थामे!
उस दिन की छवि धार खड़ी है मेरे आगे,
जब मैंने बिछुड़न के अन्तिम चुम्बन माँगे!
मैंने बाँह बढ़ाई खोये धन को पाकर,
'मुझे न छूना' बोली वह घबरा कर हट कर;
"मेरी नहीं जीवितों में होती अब गणना,
मैं मृत हूँ, तुम जीवित हो, मुझ को न परसना;
मैं मृतकों के अंधलोक में हूँ अब रहती,
जहाँ ज्योति की रेखा, सपने में न चमकती
गोधूली के समय, शीत से व्याकुल होकर,
मैं आती हूँ धूप सेकने ऊपर क्षण भर;
जब तुम चले गये मैंने आहें भर कर,
जाग बिताई रातें, गिन अवधि के बासर,

कह न सकी वह, और निदारुण आह खींच कर,
समा गयी पृथ्वी में बिजली-सी गिर तरु पर !
मैं दौड़ा व्याकुल हो कर उसको पुकारता,
उस मृतकों के देश कौन पर मेरी सुनता !
किन्तु पुनः कोई गोधूली उस को बन में,
लावेगी आशा है एक यही जीवन में !

आह ! यह दिन भी

आह ! यह दिन भी गया !
अब प्रभा पीली शिशिर के पीत पत्रों से छनी,
चिर बिदाई माँग गायब हो रही धीरे घनी !
उड़ रहा है साँझ का बिछुड़ा हुआ बादल नवल;
ग्वर पवन से छिन्न होता बिखरता प्रति पल सदल
नील यमुना की लहर पर काँपती अन्तिम किरण,
शून्य तट पर जमा होता अंधकार शनैं सघन !
अब गया यह दिन सदा को, फिर न लौटेगा कभी !
डाल से जो फूल मुरझा वह न फूटेगा कभी !

प्रेत-सुदामा

श्मसान-धूम्र-सा घनाकार, छाता जब संध्या अन्धकार,
निःशब्द उमड़ता कल हीन वैतरणी जल-सा निराकार,
दुर्भेद्य जाल-सा जकड़ प्राण, गाता समुद्र के रुद्र-गान,
जब भूखी नागिन सी तरंग, डसती तरणी के अंग अंग,
औ खोल भयानक मुख, समुद्र,तरणी को मुख में डाल क्षुद्र,

हो जाता है नभ-सा प्रसन्न, संध्या-सा नीरव निस्तरंग !
पर्वत को पल में बना धूल, कर छिन्न-भिन्न तरु-दल समूल,
नदियों को कर के उदर-लीन, रोती प्रति पल वे जहाँ क्षीण !
उस समय छोड़ निज नरक-वास, प्रेत-गण घूमते हैं सहास,
अपने चरणों की चापों से करते नीरवता का प्रसार.
रौंदते धरा को चरणों से, फैला फैला कर अन्धकार;
कंकालों का कर्कश स्वर कर, छाया-से मृत नारी औ नर,
गिद्धों-से धरती के ऊपर, चल पड़ते हैं ले-ले खप्पर !
उस समय एक गिरि के ऊपर, मैं सोया था दिन-सा थक कर
पर आंखों में वह अंधकार, जिस के जल में जीवन-विहार,
जगता फिर हो कर स्वस्थ सबल, पा कर के यौवन पुनःनवल !
मैं सोया था पर आस-पास फैला कर अपना मृत्यु-पाश,
था ताक रहा घन अंधकार ! सहसा प्राणों के तार तार
मेरे छू, कँपा दिए किस ने ? मैं चौंक गया, देखा मैंने,
पीला आ !कितना पीला नर! मुझ को निज हाथों से छू कर,
उन हाथों से जिन पर पतली ऊँगली सांपों--सी खेल रही,
हँसता था सूखा.कठिन हास, उस की आँखों के आस-पास!
दीखते मृत्यु के दन्त-चिन्ह, गह्वर नागों-से दंत-चिन्ह !
बाकी सारा मुख और गात, था पतझड़ का-सा पीत-पात !
मेरे कानों में झुक कर वह, रुक गया वह आह ! जैसे कुछ कह,
सुन कर उस का भीषण सँदेश, झर-झर मेरे सित हुए केश !
वह बोला-'प्रेत तुम्हारा मैं, लेने को तुम को आया मैं,

मृत्यु ने बुलाया है तुम को, अब छोड़ो इस प्रिय धरणी को!
यह कह उस ने दी खोल तरी, मुझको लेकर बह चली तरी !

तरती कितने तम के सागर, अह कित ने लोकों के भीतर--
जाती प्राणों में पीड़ा-सी, खेलती मृत्यु की क्रीड़ा-सी,

मेरा साथी चुपचाप खड़ा, मेरे प्राणों में आँख गड़ा,
देखता रहा, करता जर्जर भीषण ज्वर-सा मेरा अंतर,

घूमता चक्र,हा प्राणों पर, कुटिल वज्र-तरु के ऊपर,
गिरने को उसे मिटाने, को कर उसे नष्ट, सुख पाने को !

मृत्यु-नगरी

मृत्यु ने अपने नगर में देख मुझ को,
कहा मेरे पास आ कर रोक मुझ को,
हे धरा के पथिक ! हे विश्रान्त मन !
कर रही स्वागत तुम्हारा मैं मरण !

और मै ने मृत्यु के सकरुण नयन में सुधा का बास देखा,
जिसे जीवन भर रहा मैं खोजता संसार में.

मृत्यु बोली प्रेम से गीले वचन,
हे पथिक ! हे श्रान्त पद नीरस नयन !
क्यों धरा को गोद तज कर तुम यहां भूल करके आ गये ?

नदी-तट पर

मुझे उठाकर कौन, नदी-तट पर ले आया ?
चारों ओर धुएँ का सागर लहराता है,
हुई चेतना भ्रष्ट न अब कुछ दिखलाता है,

जलती है या भस्म हो चुकी है यह काया ?

ज्वाला

हा. मेरे दुर्बल प्राणों में; किस ने दी सुलगा ज्वाला ?
मेरा उर मरघट करती है, यह पिशाचिनी विकराला
मेरी लज्जा, मेरी शुचिता ! मेरा सुख वह फूँक चुकी,
मेरा खून चूसती जाती, जलती है अनंत ज्वाला !

काल-सुनार

मुझे ज्वाला में न डालो, मैं न स्वर्ण, सुनार हूँ !
मत जलाओ, मत जलाओ, मैं न स्वर्ण, सुनार हूँ !
समझ कर भारी मुझे-मत भ्रम करो,
देख मेरी चमक मत नादान हो !
इस धधकती आग में मुझ को न डालो,
मैं न लौटूँगा जहाँ से हे बचा लो !
भस्म कर मुझ-को, तुम्हें क्या लाभ-होगा ?
मुझे ज्वाला में न डालो, मैं न स्वर्ण सुनार हूँ!

हरी-धरा

पतझड़ देख अरे मत रोओ वह वसन्त के लिए मरा,
शशि को गिरते देख न रोओ, वह प्रभात के लिए गिरा,
मिटा-बीज मिटता जाता है, यह बादल रोता-रोता
पर देखो होती जाती है सुख से कितनी हरी धरा !

दैव का आघात

कभी मेरे ही स्वरों में रो पड़ोगे मित्र तुम भी

कौन अब तक रह सका है, इस धरा पर सदा हँस ही ?
कौन है वह कभी जिस के दृग नहीं सुख से भरे ?
कभी जिस के वृन्त सूने छोड़ कर न कुसुम झरे ?
सह रहा हूँ आज में यदि, कल तुम्हें, सहना पड़ेगा,
दैव के आघात से कोई नहीं जग में बचेगा !

प्रिय शम्भु

मैं प्रिय शंभु, कई वर्षों से बहुत दुखी हूँ,
सहता तन के क्लेश, और मन में चिंता की
ज्वाला से जलता रहता, जीता विष पी-पी,
मैं न हाय! हँस पाया हो कर कभी सुखी हूँ ?

कोऽहम्

कौन हूँ मैं, हे न यदि मैं हूँ करुण उजड़ी हंसी!
मैं नयन हूँ दीन जिस में वेदना तीखी बसी,
ज्योति रिंगिण-सा मरा, निस्तेज-सा पुरुषार्थ हूँ,
मैं हृदय बुझता हुआ, कुररी-मुखी अनुराग हूँ !

निशेष

स्नेह मेरा जल चुका अब, शलभ भी हैं जल चुके,
भाग्य के नक्षत्र मेरे गगन-तल से ढल चुके,
अब प्रकाश न शेष मुझ में, न कुछ ऊपर से मिलेगा,
प्राण को जो शान्ति देगा वह समीरण कब चलेगा?

पतित-पावन

हाय ! कौन समझेगा मेरी इन आँखों का पानी ?

मेरी पूजा सफल करेगा, कौन स्नेह का दानी ?
कौन बसेगा स्वर्ग छोड़ कर, मेरे साथ नरक में ?
किस देख कर पुण्य बनेगी, यह पतितों की रानी,

जागरूक

मेरा संचित जीवन का धन, चुरा न कोई ले जाए,
मेरी शान्त अचानक छू कर जहर न कोई कर पाए,
जागरूक रहता इस भय से. निशिदिन मेरा प्रहरी,
मेरे मधुर स्वर्ग में कोई, नरक न जिससे लाए,

पादप-संसार

एक पादप है यह संसार, लगे हैं जिस में पत्र हजार !
जिसे देने को श्री का दान, लौटता है मधु ऋतु प्रतिबार,
एक पत्ता नादान मनुष्य, न जिस को अपना ज्ञात भविष्य
काँपता रहता है दिन रात, गिर पड़ेगा जाने किस बार
एक पादप है यह संसार !

सुन्दरता के विस्तार में मनुष्य जीवन की अवस्थानुकूल बदलती हुई शरीर सापेक्ष मनोवृत्तियाँ भी योग देती हैं। बचपन सरलता में सौन्दर्य्य देखता है, यौवन रक्त की लालिमा, हृदय की धड़कन और रूपों की चारुता में उसके दर्शन करता है। शक्ति, इस सौन्दर्य की विशेषता है। वृद्धावस्था, शक्तिहीनता के कारण विचारों की पुष्टता में सौन्दर्य देखती है। यौवन स्वप्न देखने में सुख पाता है, स्वप्न को सत्य समझ कर धोखा खा सकता है। बुढ़ापा जाग्रति को भी स्वप्न, और यौवन के सत्य को भी धोखा मान

लेता है। यौवन जिसके लिए कहता है—

"सपना है, सच है, सपना है, पर सपने में,
जो सुख होता, वह हो सकता क्या जगने में ?
सचमुच है मृग मरीचिका पर कितनी सुन्दर है !
अमर नहीं है, पर कितने स्वर्गों की वर है !"

('नन्दिनी' से)

उसी के लिये वृद्धावस्था का कहना है—

"हृदय, रूप-शोभा ही तो तुमने चाही थी ?
हृदय, वासना ही तो तुम को भाई थी !
विष को अमृत समझाने में क्या चतुराई थी ?
सोचो तो तुमने क्या व्यथा नहीं चाही थी ?"

('नन्दिनी' से)

यौवन कहता है माया ही सत्य थी, बुढ़ापा कहता है वह तो छाया थी, नादानी थी। यौवन कहता है शरीर में ही सुन्दरता होती है, बुढ़ापा कहता है सौंदर्य उसमें है जो प्रलय में स्थिर वस्तु है। यौवन ईश्वर को भुला कर वासना की ज्वाला में भस्म होने में, अपने ही सुख से क्रन्दन करने में सुख पाता है।

मेघों में ज्यों इन्द्र धनुष की छवि मन मोहन,
इस विषादमय जीवन में ऐसा ही यौवन !
शीत शिशिर में सूरज की सुकुमार तपन-सी
प्रिय लगती हैं किरणें इस मादक यौवन की,
मेघों की लाली-सा यह क्षण भर ही का धन,

इन्द्र धनुष की छाया-सा है, यह नव यौवन !

बुढ़ापा वासनामय यौवन की उपेक्षा कर परमात्मा की शरण जाने में शान्ति पाता है—

चाह नहीं है अब मेरा जीवन शीतल है,
द्वेष नहीं है, अब यह उर हो गया सरल है,
गई वासना, गया वासनामय यौवन भी,
मिटे मेघ, मिट गया आज उनका गर्जन भी,
मैं निर्बल हूँ पर मुझको ईश्वर का बल है.
चाह नहीं है अब मेरा जीवन शीतल है।

यौवन वर्षा में वसन्त को पाता है, शिशिर में हरे पत्ते देखता है—

"जग लघु है अनन्त जीवन, जीवन है अनन्त यौवन!
परमानंद पूर्ण है जीवन, जीवन है अनन्त यौवन।"

बुढ़ापा वर्षा की बाढ़ के बाद आने वाले शरद में शान्ति का और पत झड़ में जीवन, का सदेश पाता है

"पत झड़ है, आस-पास, पीले दल झरते,
हरे हरे गेहूँ पर हिल-हिल कर कहते,
झरना है जिनको वे पल-पल हैं झर रहे,
बढ़ना है जिनको वे पल-पल हैं बढ़ रहे।

(चन्द्रकुँवर)

यौवन, प्रसार-विस्तार में सौन्दर्य देखने का अभिलाषी है वृद्धत्व मूल को पकड़ना चाहता है उसे शाखा-प्रशाखाओं की अपेक्षा जड़ अधिक रुचती है। वह परिधि को छोड़ कर केन्द्र से प्रेम करने लगत।

है। यौवन सुमन है बसन्त है, वृद्धत्व बीज है, शिशिर है।

ऐसी स्थिति में यही कहा जा सकता है कि समय-समय के अनुकूल वस्तुओं के प्रति सुन्दरता की भावना में भी अन्तर आता जाता है जो चीज आज सुन्दर समझी जाती है, कल वही असुन्दर ठहर सकती है, जो एक देश में मान्य है वह उसी समय अन्य देश में अमान्य हो सकती है, जो एक को भाती है वह दूसरे को अप्रसन्न कर सकती है। रुचि की भिन्नता लोक का धर्म है।

सौन्दर्य की उत्पत्ति तथा अनुभूति पहले पहल कब और कैसे हुई इस का कोई एक सन्तोषजनक उत्तर बुद्धि कभी नहीं दे सकेगी। हृदय शायद किसी हद तक दे सके। हृदय, भावनाओं का सागर है, और भावनाएं सौन्दर्य की जन्म--दात्री हैं। उस समय ही सौंदर्य का जन्म हुआ समझना चाहिये जिस समय मनुष्य को हृदय मिल गया। हृदय, हृदय से खिंचता है। सौन्दर्य, हृदय का अभिन्न गुण है। इसलिए सौन्दर्य के प्रति आकर्षण होना सहज स्वाभाविक है।

सौन्दर्य की अनुभूति में इन्द्रियों का सहयोग भी आवश्यक है ठीक उसी प्रकार जैसे चेतन मन और उपयुक्त परिस्थिति में आलम्बन केन्द्र की उपस्थिति कम से कम एक बार अवश्य अपेक्षित है, पीछे से स्मृतियाँ, कल्पनाएँ, भावनाएँ काम कर सकती है। इन्द्रियाँ, सौन्दर्यानुभूति में आदान-प्रदान रूप साधन हैं। सौन्दर्य अनन्त है। वह अनंत प्राण-स्पंदन और उस की अभिव्यक्ति से एक साथ ही व्याप्त है। वस्तुओं में, इन्द्रियों में, सौन्दर्य की प्रतीति इसलिए होती है कि किन्हीं प्राण स्पंदनों की अभिव्यक्ति उन में हुई है और अब

उन से हो रही है। सूर्य की जो किरणें मणि में, जल में पहले पड़ीं वे अब उन से विकीर्ण हो रही हैं। अनन्त ऐश्वर्य के प्रकाश को विकीर्ण करने वाली सृष्टि इसलिए और भी अधिक सुन्दर हो जाती है कि उस प्रकाश को चेतने वाली चेतना अपनाती है—

'जड़ता की माया थी चैतन्य समझ कर हम को'

–प्रसाद–'आँसू'

इन्द्रियाँ, सौन्दर्य की अभिव्यक्ति में, अनुभूति में कुछ उसी ढंग से काम करती हैं जिस ढंग से भाषा में शब्द और उन के ध्वनिचित्र-अर्थ, रस की अभिव्यक्ति अनुभूति कराने में काम करते हैं।

सौन्दर्य की अनुभूति का संबन्ध चेतना से है। चेतना का बाह्य व्यक्तीकरण ही सौन्दर्य की उपस्थिति कराता है। चेतना कभी इन्द्रियों द्वारा तो कभी कल्पना का सहारा लेकर सौन्दर्य की स्वतंत्र अनुभूति करती है। अनुभूति की वह अवस्था जिसमें इन्द्रियाँ योग दे रही हैं सरल सुबोध और सुलभ है—

'रूप रेख गुण जाति जुगति बिनु, निरालंब मन चकृत धावे,
सब विधि अगम विचारहिं, तातें सूर सगुण लीला पद गावे.'

विश्व में चेतना स्थूल के सहारे व्यक्त होती है, इन्द्रियाँ स्थूल से अपना संबंध आसानी से जोड़ लेती हैं।

चेतना का सूक्ष्म या मुक्त रूप, कल्पना अनुभूति से गम्य है, किन्तु कल्पना अनुभूति का मूर्त रूप, स्थूल वस्तुओं के मूर्तरूप से सूक्ष्मतर है—

जाके मुँह माथा नहीं, नाहीं रूप करूप,
पुहुप वास थैं पातरा, ऐसा तत्त अनूप।

इसलिये सौन्दर्य की स्वतंत्र अनुभूति के लिए प्रयास की आवश्यकता होती है—

हिरण्य-गर्भ

जगती में आतीं कितनी रितुएँ, पर मधुरित सी और नहीं,
गातीं पुलकित हो विहगीं कितनी, पर परभृत-सी और नहीं
उसी गगन में पली चाँदनी, तारे जिस में भरे हुए,
हुई मोहिनी वह क्यों इतनी? इस रहस्य को कौन कहे?
ओ सुन्दर के भीतर सुन्दर! प्राणों की वाणी मोहन!
हे सुस्पष्ट। हे सदा अगोचर, विश्व सिन्धु के अमृत कण!
तुम्हें खोजते हैं जन कितने, निशि-दिन हे पावन धन!
किन्तु किसी को ही करते तुम, सफल साधना मन मोहन!

(चन्द्रकुँवर)

प्रयास की सफलता में विशेष मानसिक तृप्ति है। इस अवस्था तक पहुँचने के लिए स्थूल की सीढ़ी पहले पार करनी होती है—

ज्ञान कहे अज्ञान बिनु, तम बिनु कहे प्रकास,
निर्गुण कहे जो सगुण बिनु, सो गुरु तुलसीदास।

स्थूल अवस्था में वस्तुओं के बाह्य रूप रंग आकार पर ही ध्यान पहले जाता है, परन्तु मानसिक विकास के होते ही वस्तुओं में व्यक्त होने वाली चेतना पर भी ध्यान जाता है—

सर्गुण की सेवा करो, निर्गुण का करि ज्ञान,
सर्गुण- निर्गुण थैं परे, तहैं हमारा ध्यान।

धीरे-धीरे चेतना की अनुभूति और उस की अभिव्यक्ति ही प्रधान हो कर बाह्य सीमाओं को धूमिल बना दे सकती है। उस अवस्था में नाम संज्ञाओं का महत्व नहीं रह जाता। सर्वनाम, संकेत, प्रतीक प्रधान ध्वन्यात्मक लाक्षणिक भाषा की प्रधानता हो जाती है और तब अभिव्यक्ति रहस्यात्मक (रभसात्मक) आनन्द स्वरूप सूक्ष्म स्पन्दनों की होती है। और अभिव्यक्ति की शैली जब सिद्धान्त रूप में स्वीकृत हो जाती है तब सिद्धान्त रहस्यवाद के नाम से पुकारा जाता है। और संज्ञा बहुला वह प्रणाली जो रूप आकार आदि की सीमाओं की स्पष्टता को भाषा-भावना आदि में भी प्रधानता देकर बाह्य तत्वों को प्रमुख रूप से अपनाती है रहस्यवाद से भिन्न संघर्ष से 'प्रगतिवाद' के नाम से पुकारी जाती है।

वस्तुओं के बाह्य रूप-रंग, आकार आदि को ही सब कुछ न समझ कर जब हम उन के आंतरिक सौन्दर्य को भी, उन के बाह्य सौन्दर्य में देखने लगते हैं, तब हमारे शरीर के अन्दर प्राणों में विशेष उन्मेष होने लगता है। उस समय शारीरिक बंधन, प्राणों को भले ही रुचिकर न हो किंतु जीवन में आवश्यक वस्तु स्थिति बन कर वह सदैव रहेगा।

विकास पूर्ण बुद्धि जब भेद भाव को छोड़ कर अनंत चेतना को ही सर्वत्र देखने लगती है तब हृदय आनंद की अनुभूति करने लगता और मन भी सौंदर्य में लीन हो जाता है।

चेतना की यह व्यापकता ही जीवन की सत्य प्रतिष्ठा है। फिर ऐसी अवस्था मे कौन कह सकता है कि सौन्दर्य आनंद तथा सत्य तीन अलग-अलग अभिव्यक्तियाँ हैं। दार्शनिक जगत में जिसे अस्ति, भाँति, प्रिय, सत् चित्, आनंद, दि ट्रू, दि गुड, दि ब्यूटिफुल, अथवा सत्य, शिवम्, सुन्दरम् की शब्दावली से व्यक्त किया जाता है वह सत्य का विरूपाक्ष शिव नहीं, कल्पना की चन्द्र-कला से युक्त सुन्दर शिव स्वरूप है। इसी सुन्दर शिव स्वरूप की सत्यता के लिए पुराणकारों ने सत, रज, तम के मूर्त प्रतीक विष्णु ब्रह्मा और महेश की त्रिमूर्ति सृष्टि की है। पश्चिम की ट्रिनिटी इसी चेतना की अभिव्यक्ति है। व्यावहारिक जीवन में उस की सार्थकता के लिए काव्य सगीत तथा नृत्य है। काव्य की चेतना में विराट् तत्व को अपनाने वाले चन्द्रकुँवर ने जीवन की नश्वरता में आनंद का शाश्वत स्वरूप पहिचान कर प्रेम, सत्य और छवि तथा प्रकृति के बीच मानव जीवन की स्थिति दिखलाई है।

हिम-माधुरी

माधुरी मेरे हिम गिर की !
मधुर हँस निर्मल नभ के पास, उमड़ झरनों में सरव सहास,
पीठ पर बिखरा नीले बाल, डाल उरपर सुर-धुनि की माल,
बिछा गिरि-तल पर निज अंचल, देखती हो पथ को प्रति-पल,
माधुरी मेरे हिमगिर की !
सींच नित शिशु विपिनों के प्राण, लताओं में विकसा मुसकान,
सुशीतल शैल बनों के बीच, भुला हरिणी को गा-गा गान,

कुसुम-सी तज सु-मधुर निःश्वास, नचाती अलि को चारों पास,
माधुरी मेरे हिमगिरि की !
पकड़ लम्बी अलकों के छोर, किसी आशा से बनी विभोर,
गुफा से प्रेयसि तुम प्रति वार, नील नभ में क्या रही निहार,
मेघ गति से कर रहा गमन, उतरता आता नव सावन ?
माधुरी मेरे हिमगिरि की !
धार सुरभित वासन्ती वास, हृदय में भर सु-मधुर अभिलाष,
बना माला कर कुसुम चयन, बिछा कुंजों मे मृदुल शयन,
चाँदनी-सी हँस अपने आप, सुन रही हो किस की पद चाप?
माधुरी मेरे हिमगिरि की !
तुम्हारी ज्योत्स्ना में चुपचाप, डूब जाता अपलक जीवन,
उच्छ्वसित होकर अपने आप, बिखर जाता स्वर का बंधन,
विकल हो कानों के पास, न जाने क्या कहता यौवन!
माधुरी मेरे हिमगिरि की !
तुम्हारे साथ अनेकों प्रात, मनोरम दोपहरें निर्वात,
अनेकों बीती संध्याएँ; अनेकों रातें पुलकित गात,
न जानें कितने प्रिय जीवन, किए मैं ने तुम को अर्पण,
माधुरी मेरे हिमगिरि की !

प्रेम

किस के सरस अपांगों में तुम छिपे हुए हो ?
ओ प्रेम, प्रेम मेरे !
किस के मृदुल अधर पर आ तुम रुके हुए हो ?

ओ प्रेम, प्रेम मेरे !
किस के नयन नलिन में तुम गूँजते निरंतर ?
ओ प्रेम, प्रेम मेरे !
किस के हृदय-सदन में तुम पल रहे निरंतर ?
ओ प्रेम, प्रेम मेरे !
मैं ने कभी न देखी वह अप्सरा कुमारी !
वह सुन्दरी नवेली !
मेरे लिए तुम्हें जो है पालती हृदय में
बन में कहीं अकेली,
किसके हृदय—सदन में तुम पल रहे निरंतर ?
ओ प्रेम ! प्रेम मेरे !

पहली किरण

मैं हिमालय पर गिरी पहली किरण हूँ !
मैं धरा को देखती पहली किरण हूँ !
मैं हिमानी की प्रथम अनुराग-रति रेखा सुनहली,
सूर्य की मैं दूतिका पहुँची प्रिया के पास पहली !
मैं मृदुल चंपक कली हूँ, सूर्य ने जिस को गिराया,
और वसुधा के कपोलों पर गिरी रवि-प्रेम-काया !
पवन से बुझने न वाली ज्योति-श्वासा,
दीप की सुन्दर शिखा मैं ज्योति-आशा !

कोयल

हे मेरे अन्तर की कोकिल ! बोलो ! बोलो ! बोलो !
हरे पल्लवों में एकाकी गाने वाली बोलो ! बोलो !
प्रमुदित चित हो, पुलकित अति हो, हे कोकिल मतवाली,
गा मुखरित कर दे मधुवन की आली डाली-डाली।
वह सुकुमार प्रवासी बन में चन्द्र-किरण-सा आता,
कुछ दिन को वह लता रसीली, पेड़ तरुण कर जाता ;
जिसे देख फूलों में मधु की बूँदें प्यासी मरतीं,
वह वसन्त मेरी दूर्वा पर चल कर जब है आता,
तब स्वागत करने को कुछ तो मेरी वन-श्री बोलो !
हे मेरे अन्तर की कोकिल ! बोलो ! बोलो ! बोलो !
हे मेरे अन्तर की कोकिल ! कूको ! कूको ! कूको !
हे मेरे गिरि वन की कोकिल ! कूको ! कूको ! कूको !
हे मेरी कलियों की तृष्णा ! बोलो ! बोलो ! बोलो !
हे मेरे अन्तर की कोकिल ! बोलो ! बोलो ! बोलो ।

(२)

हे प्रेयसि ! इस मधुवन में भी हो फूलों का पीत प्रकाश ,
हो अनन्त में तारात्रों का बिखरा सुमधुर उज्ज्वल हास ,
चित्रित बादल-सा हिलता हो, किरण-करों से शरदाकास ,
लौट रही हो पागल सी बन, जब मेरे लघु उर की श्वास
सोते हों मेरे नयन श्रान्त, आवें यदि मेरे कृष्ण कान्त,

गाना स्वागत के अमर गान, कोकिल चिर जागर्ति! देवि!प्राण!
वह अमर वेलि से सरस गान, वह सरस गान छतनास्-गान,
कोकिल ! प्राणों की देवि ! प्राण! गाना स्वागत के अमर गान,
गुञ्जित कर दो सारे जग को, पुलकित कर दो हृदय-हृदय को,
कंपित स्वर से आज लुभा दो, इस मधुवन के तरुण विहग को,
इस प्रकार अनजान आज बन, मान करो मत नादान !
रूठो मत रूपसि उस से ही, जो यौवन का जीवन प्राण ,
जिस के मदिर रूप के तुम ने गाये हैं बन-बन में गान .
वही बन बधू द्वार तुम्हारे, आई उस को दो सम्मान

जीवन-सहचर

तुम जीवन-तम-किरण प्राणधन !
प्राण-प्राण, जीवन के जीवन !
निशि के स्वप्न, जागरण दिन के,
गीत अधर के, चिन्तन मन के,
तुम्हीं विषय मेरे दर्शन के,
भरे तुम्हीं से मेरे लोचन !
तुम जीवन-तम-किरण प्राणधन !
मेरे दुख के करुण अश्रु-कण,
मेरे सुख के हास सु शोभन,
तुम को ही साँसों में क्षण-क्षण,
पी करती मैं जीवन धारण !
तुम जीवन-तम-किरण प्राणधन !

चिर-प्रिय सहचर सूनेपन के,
प्रिय बसन्त मन के मधुवन के,
लुब्ध भ्रमर मेरे यौवन के,
शान्त जरा के सर्व समर्पण !
तुम जीवन-तम-किरण प्राणधन !

श्री-मुक्त

माँ कमले ! मेरी अंजलि रत्नों से भर दो !
मुझ दरिद्र को तुम धन से परि पूरित कर दो !
तिरस्कार से मुझे आज जो देख रहे हैं,
तुम उन की आँखों में मुझे पुनः आदर दो !
वह वैभव जो स्वर्ण—पंख फैला कर अपने
चला गया है श्री—विहीन कर मेरे घर को
उसे बुलाओ मेरे घर के बीच बसाओ,
पृथ्वी की मान-प्रतिष्ठा के उस सहचर को !
रहो अस्थिरे, सुस्थिर हो कर मेरे घर में,
मुझ को अपनी चिर-सान्निध्य कृपा का वर दो !
पहिन स्वर्ण के अलंकार, माथे पर अपने,
रत्नों का किरीट रख,झिलमिल-झिलमिल करती,
जिस दिन तुम मेरे घर में बसने आओगी
शोभा की लहरों से जल-थल नभ को भरती,
किस प्रकार हो प्रणत करूँगा मैं अभिनंदन !
कर पाऊँगा कैसे देवि, तुम्हारा वन्दन !

आँसू से पखार कर कोमल चरण तुम्हारे,
दूँगा मैं तुम को अपने शोणित का चन्दन!
हे कुल की शोभा, तुम मेरे कुल में आओ!
पृथ्वी में मेरे कुल को तुम प्रथित बनाओ!
देवि! व्यर्थ है विद्या! व्यर्थ सुशोभन वाणी!
तुम हो सकल सृष्टि के भव्य गुणों की रानी,
तुम हो दृष्टि अंध की, तुम हो कुरूप की शोभा,
तुम हो मूक कंठ की मुखर गिरा कल्याणी!
तुम प्रसन्न हो तो दुख में भी शोक नहीं,
माँ तुम को खोने पर फिर यह लोक नहीं है!
मिलती हो तुम दृढ़ शरीर को, दृढ़तर मन को!
कैसे जननि मिलोगी तुम मेरे जीवन को!
क्षीण देह ले कर के मैं पथ देख रहा हूँ,
जीवन की शोभा दो तुम आ मेरे तन को!
मेरे मस्तक पर माँ वरद हस्त निज धर दो,
माँ कमले! मेरी अंजलि रत्नों से भर दो!

ओ रवि

ओ रवि, जीवित करो मुझे, मेरे मस्तक को
भरो तरंगों से आलोक और गीतों की,
दूर करो इस अंधकार को जिस ने मेरी
दृष्टि निराश बना दी कुत्सित स्वप्न दिखा कर,
अंग दीन हो गये हाय, मेरी आशाएँ,

क्षीण हुई ओ रवि, मुझ को अपनी किरणों में,
जाग्रति दो, शोभा दो, सुख दो, और शक्ति दो,
मुझे जगाओ जीवन के कर्तव्य क्षेत्र में,
जहाँ वज्र-आघात सहे जाते हैं हँस कर ही;
जहाँ निराशाएँ जीवन के आगे झुक कर
बन जाती हैं आशाओं की भी आशाएँ!

हे तरुण तपस्वी

हे उत्तर के श्वेत केश चिर तरुण तपस्वी!
हे पृथ्वी के निर्मलतम धन! हे वसुधा की
स्वर्ग भूमि! हे गंगा की निर्मल लहरों के
पिता हिमालय! मेरी वाणी को प्रशस्तता
औ, शुचिता दो! अपने उज्ज्वल प्रासादों में,
सूर्य-चन्द्र के दीप जिन्हें आलोकित करते,
जिन में अमरों के बालक प्रिय क्रीड़ा करते!
सुर-कन्याएँ जहाँ मधुर बाँसुरियाँ ले कर
करतीं रहतीं कोमल ध्वनियाँ, वहाँ मुझे भी
रहने दो; मुझ को भी वे प्रिय स्वर सुनने दो,
स्वर्ग लोक की उस पावन शोभा से अपने
नयनों को मुझ को भी हे पावन! भरने दो!
वह चिर चंचल देव-कुमारी जो कानों में
मेरे कर मृदु गुंजन, प्रेम भरी बातों से
हृदय प्रफुल्लित कर मेरा, सहसा ही मुझ को

छोड़ चली जाती है अपने पंख खोल कर,
नील गगन में वायु तरंग सदृश मृदु हँस कर,
उस सुर-कन्या कचित प्रेयसी को पाने को
बैठ तुम्हारे किसी शृंग पर मैं यौवन भर
कठिन तप करूँगा, रोने से यदि उस का उर
पिघलेगा, मैं रोऊँगा रजनी भर जग कर,
यदि हँसने से वह आएगी मैं निर्झर-सा
सदा रहूँगा हँस-हँस जीवन पथ पर चलता,
वह चाहेगी यदि कमलों का हार पहिनना,
अपने मानस के निर्जन तट पर धीरे से
उतर, शान्त जल में चुपचाप खिले कमलों को
तोड़, गूँथ दिन भर माला गुंजित छाया में,
फिर संध्या के समय उस के चरणों पर
रख दूँगा, जैसे पृथ्वी अपनी शोभा को
रख देती संध्या के कोमल चरणों पर!

यम-यमी-संवाद

पुष्पित तरु के नीचे नत-मुख किसी ध्यान में!
मग्न-रूप हे यम, मेरे चुम्बन से जागो,
आलिंगन से जागो!
मेरी बाँहों के बंधन से सीख निष्ठुरता
मेरे व्याकुल अधरों से मदान्ध आतुरता
भग्न करो लतिका-सी मृदु मंथित वापी-सी

लीन करो मुझ को अपने-
यौवन में, जागो
हे यौवन-धन जागो !

यम

विकृत-वेष यह, ओठों में यह-
कैसी ज्वाला !
आँखों में दारुण बिजली, अंगों में बहतीं
ये कैसी बाढ़ें मर्यादा—हीन गरजतीं !
बहिन, डगमाती भू-कम्प-से
शैलों की श्रेणी-सी, बाहें फैलाए
तुम आतीं, लौटो स्नान कर शीतल जल से
करो प्रार्थना स्वास्थ्य के लिए वरुण देव की !

यमी

हे यम, स्वस्थ नहीं मैं, हे प्रिय स्वस्थ नहीं मैं,
अपने शीतल कर से यह मस्तक छू देखो,
मेरे वक्षस्थल के भीतर, प्रबल वेग से—
उमड़ रहे दावानल का हर-हर रव सुन कर-
दया करो मुझ पर, मेरे अंगों पर बरसो,
हे शीतल घन, मेरी ज्वालाओं पर बरसो,

यम

दूत वरुण के छिपे हुए पत्रों के पीछे

खड़े भूमि पर, खड़े पवन में,
खड़े गगन में,
सुनते हैं उर-उर की कंपन, देख रहे हैं
उर उर के भावों को--
ओ अभागिनी नारी!
किसी और को वरण करो मैं तो भाई हूँ!
हैं धर्मज्ञ वरुण उत्पथ चरणों से जीवन
हर लेती क्रूर दृष्टि उनके नयनों की!
किसी अन्य को भरो सुभद्रे, निज बाँहों में,
लिवुज[1], वृक्ष को कर देती है जैसे परि पीड़ित,-
मुझे स्वसे, अपना पितृव्य, पूज्य जन जानो!

तरंगिणी

यह तरंगिणी, मेरे जीवन की तरंगिणी!
तुम्हें सींचनी हैं मेरी निराश इच्छाएँ,
तुम्हें पूर्ण करनी हैं प्राणों की भिक्षाएँ,
तुम्हें सरस करनी हैं मेरे दुष्ट भाग्य की
दावानल से मुझे दी हुई कटु शिक्षाएँ,
तुम्हें हरी करनी है मेरी झुलसी धरणी
हे तरंगिणी!
मेघ न तत्पर हो यदि नीर मुझे देने को,

---

१ लता

वज्र रहे सन्नद्ध सदा ही यदि गिरने को,
मैं न मरूँगा, मैं न मरूँगा यदि मूलों को,
मेरी मिलता रहे तुम्हारा रस पीने को,
हरित रहूँगा तुम्हें परस हे जीवन, जननी
हे तरंगिणी !

बैठ तुम्हारे शोभन पुलिनों पर जीवन भर,
मैं दृग मूँद सुनूँगा लहरों के नव-नव स्वर,
देखूँगा उगते शशि को, उड़ते मेघों को,
देखूँगा तरुणी लहरों के नृत्य मनोहर,
पीऊँगा छवि अञ्जलियाँ भर-भर कर अपनी
हे तरंगिणी !

जल में आधे डूबे किसी विपिन के भीतर,
दूर विश्व से अपना सुन्दर नीड़ बना कर,
सजल पवन के स्पर्शों से रोमांचित होती,
विकल हर्ष से निशि दिन विह्वल स्वर उड़-उड़कर,
कूकेगी मेरी आशा बन तरु-विहंगिनी
हे तरंगिणी !

मेरे भाव फूल बन, भर देंगे पुलिनों को,
मेरी सुरभि मधुर कर देगी सलिल कणों को,
मेरा हृदय स्वच्छ समतल बन कर कर देगा,
शिथिल तुम्हारी लहरों के चंचल चरणों को,
मेरे नयन तुम्हें कर देंगे शोभा अपनी

हे तरंगिणी !

आओ गिरि शिखरों पर स्वच्छ ध्वजा फहराती,
गहन घाटियों में सवेग शुचि वस्त्र उड़ाती,
आओ उन औषधियों का रस ले अन्तर में,
जिन से मृत प्राणों में शक्ति नई फिर आती,
कर देती जो तरुण, शुष्क फूलों की अवनी,
हे तरंगिणी !

मुझे घेर कर करो मधुर कलरव लहरों का,
मुझे पिलाओ मधु अपने निश्छल अधरों का,
मुझे डुबा अपने निर्मलतम अमृत-हृदों में,
रूप-कंठ दो नन्दन में गाते अमरों का,
खेल-खेल मेरे जीवन के शून्य तटों से
मुझे हँसाओ !
हे निर्जन की व्यथा संगिनी,
हे तरंगिणी !

२४ अगस्त १९४९ ई०

गंगा से

जननि, तुम्हारे तट पर ही जब भूखी ज्वाला,
मुझे भस्म कर पी जावे धू-धू कर जननी,
घने धुएँ से घिरी रुद्र-दृग-सी विकराला,
और प्राण ले कर मेरे, जब सुख से हँसती,
मृत्यु चले चिर अंधलोक को विद्युत—गति से,

छोड़ धरा पर मेरी दुखिया जननि विलखती,
छोड़ मुझे जब अग्नि तुम्हारे पावन तट से,
धूम्र लीन हो उड़ जावे जगती के उर पर,
मँडराती, गिद्धों के वृहत् परों से सट के,
तब माँ, तुम अपनी जल की शय्या से उठ कर,
मेरी धूलि, चिता से अंचल में भर,
शीतल करना मुझ को अपने उर पर धर कर!

सुर-सरि

मैं न रहूँगा बन शिव शंकर, नग्न-लग्न हिम के शिखरों पर,
संग हीन सूने अम्बर पर मैं न रहूँगा जग से ऊपर,
कालकूट अपने उर पर धर, मैं न रहूँगा बना हे अमर,
मृत्युदेव मुझ से न डरें, मैं उन से डर जाऊँगा मर,
मैं न रहूँगा बन शिव शंकर? सुर-सरि को अपने सिर पर धर,
क्या फल पाते हैं शिवशंकर? क्या पी पाते वे जल पावन?
क्या लख पाते वे पावन तन? मेरा तो पवित्र होता मन,
सुर-सरि के ही वक्ष में मरण, मैं न रहूँगा शिव शंकर बन!

मेरे पुरखे

मेरे पुरखे उस शाखा में पीते हैं यम के साथ सोम!
उन के आनंदित नृत्यों से पुलकित हैं तरु के रोम रोम,
जीवन की चिन्ता से विमुक्त वे देव गणों से निरवसाद,
फिरते रहते, पाते निशि दिन जीवन की शुचिता का प्रसाद!
सुनहले केश, नीली आँखें, उज्ज्वल वस्त्रों से ढके अंग,

वे आ-आ मेरे स्वप्नों में कर देते निद्रा-मोह भंग,
वे कभी दीख पड़ते हँसते हिमगिर के शिखरों पर निर्मल,
उन से मिल हँसते रहने को, मेरा उर हो उठता विह्वल !
सरि के तीरों पर जहाँ कहीं, रहती हैं छाहें रम्य शीत,
वे वहाँ वहाँ गाते रहते मिल कर अपने आनन्द गीत ;
चाँदनी-रात में फूलों में निःशब्द नाचते अविश्राम,
वे कभी दीख पड़ते मुझ को करते शशि को हँस-हँस प्रणाम,
धर मृदुल वंशियाँ अधरों पर, वे कभी सुनहली किरणों में,
बह जाते, भर निज गीतों की आकुलता मेरे कर्णों में,
कैसा होगा वह पुण्य दिवस, अपने पुरपों के साथ-साथ
जब नाचूँगा जल-थल में आनंद-मग्न अश्रान्त गात
१६४२ ई०

मेरे साथी

वे परिचित मेरे बचपन के एक एक कर चले गये,
वे सपने मेरे जीवन के एक एक कर दले गये,
हृदय टूटता गया, दृगों ने किन्तु न छोड़ी आशा,
हाय न आना था उस सुख को, आई सदा निराशा !
आज शक्ति बल खो जीवन के पथ पर बैठा थकित हुआ !
इतना दुख था इस अदृष्ट में, देख रहा मैं चकित हुआ !
१६४२ ई०

एक दोस्त

एक पहाड़ी के मस्तक पर पड़ी शिलाओं

के वन में बैठा था मैं ढलते सूरज की
ओर पीठ कर, दूर घाटियों में, खेतों में,
पड़ी हुई छायाओं में अपनी छाया को
ढूँढता हुआ—नीरव चक्कर काट रही थीं
शान्त पवन में विप्र-पोथियाँ, छाया तम में
कभी लीन हो जातीं और कभी किरणों में
चमक-चमक उड़तीं, असीम जल के समूह को
लिए चली जाती थीं नदियाँ विपुल नाद कर
दूर घाटियों में, खेतों की हरियाली में
डूबे, कृषक काम करते थे, दूर पथों में
चलते थे परदेशी यात्री, भरे हुए थे
नभ को कोनों में अनेक बादल सावन के !
इसी समय छोटा सा शब्द हुआ थोड़ी सी
छाया काँपी एक शिला के भीतर; देखा
एक छिपकली गरदन ऊँची कर, अनदेखा-
सा कर मुझ को बड़े यत्न से देख रही है,
आँखों के कोनों से, टप-टप जबड़ों से
जाने क्या कहती बुढ़िया की तरह हवा में!

मोटिया कुत्ता

शोर करती आ रही वर्षा बनों से,
शब्द भीषण निकलते जाते घनों से,
द्वार का रक्षक सुदृढ़, वह रोष से-

भर, बनों से आ रहे इस चमकते—
विदेशी को देख क्रोधित सिंह—सा
गुफा से बाहर निकल कर गरजता !

चींटी

ऊँची ऊँची खोहों में दुर्गम सेमल की
रहती कुछ खूँखार चींटियाँ अफगानों सीं,
लम्बी तगड़ी लाल-सुर्ख बन्दूकें ताने,
छुरियाँ लटकाये दर्रों पर पहरा देतीं,
देख दूर से आता दुश्मन मच जाती है—
उन में बड़े जोर की हल चल—दर्रे दर्रे
के आगे हो जाती जमा लश्करें उन की,
बड़े गौर-से दुश्मन की गति-विधि परेखती
निश्चय देख शत्रु का गुस्से से बेकाबू
हो कुछ बीर चींटियाँ उमड़ टूट पड़ती हैं—
दुश्मन के ऊपर-उस के शरीर में घुस कर
जगह जगह छुरियों से उस को क्षत विक्षत कर
उसे बिवश कर देतीं, हार मान चिल्लाते--
चिल्लाते पृथ्वी पर उतर भाग जाने को।

सिसकता जीवन

गिरते सूरज की पीली आँखों से गिर कर
मेरे आँगन में जो पड़ी हुई पल भर को,

इसी धूप की भाँति, करुण दुर्बल स्वप्नों से
भरा हुआ मेरा जीवन पृथ्वी के ऊपर
सिसक रहा है—नील गगन की ओर देखता ;
कहाँ मुझे जाना है ? इन दुर्बल चरणों से
पार मुझे करना है पथ किस दुर्गम वन का ?
मुझे सूर्य्य क्या पुनः खींच लेगा अपने में
जागूँगा क्या मैं प्रभात में पुनः धरा की—
आँखों में बन कर जीवन का स्वप्न सुनहला ?
अथवा मुझे छोड़ देगा वह पीत पत्र-सा
गहन रात्रि के अंधकार में ? जब कलियों से
गूँज उठेंगी इस पृथ्वी की पुलकित बाँहें
मैं ही तब हूँगा क्या सिसकी भर-भर मरता ?

गिलहरी

आती है गिलहरी नाचती पूँछ उठाती
अपने सर पर अपनी दुम का चँवर डुलाती ;
कभी बैठ कर इतमिनान से देख कहीं पर-
पड़ा हुआ रोटी का टुकड़ा एक—उठा कर
उसे पकड़ दोनों हाथों से नोच नोच कर,
खाती औ, सहसा ही चंचल पूँछ नचा कर
दौड़ भाग जाती आँगन में, या पेड़ों पर
चढ़ कर—किसी डाल पर छाया में सुन मर्मर
पत्रों का, गाने लगती है तीखे स्वर से

अपने गीत; और सहसा ही चुप हो कर के,
कूद पेड़ से नीचे देख कहीं दूरी पर
कोई और गिलहरी उस के पास दौड़ कर
उस की पूँछ दबा कर मुँह से, उसे छेड़ती
दिन भर उस के साथ छाँह में खेल खेलती।

भावर का रास्ता

बाँसों और घने शालों ने आसमान में
उलझ, जमा कर दी अपने नीचे पृथ्वी पर-
ऐसी रात न जिस में तारे कहीं चमकते;
युग-युग से सड़े पत्तों के नीचे से उठ,
चलती हवा मच्छरों से अत्यन्त घनी हो;
घनी छाँह के नीचे दल-दल बनते पोखर,
जहाँ मच्छरों की असंख्य सेनाएँ पलतीं;
कठिन सूर्य की किरणों से पीड़ित हो, अहरह
बाँसों के नीचे गुस्सावर शेर गरजते—
और कई शालों के काले तने बाँध कर
अपने दृढ़ शरीर से नीचे लटक हवा में
जीभें खोल हाँपते रहते साँप रात-दिन!

पँवालिया

मेरे गृह से सुन पड़ती गिरि वन से आती
हंसी स्वच्छ नदियों की, सुन पड़ती विपिनों की
मर्मर ध्वनियाँ, सदा दीख पड़ते द्वारों से

खुली खिड़कियों से हिमगिरि के शिखर मनोहर,
उड़-उड़ आतीं क्षण-क्षण शीत तुषार हवाएँ,
मेरे आँगन छू बादल हँसते गर्जन कर,
झरती वर्षा, आ वसन्त कोमल फूलों से
मेरे घर को घेर गूँज उठता; विहगों के दल
निशि-दिन मेरे विपिनों में उड़ते रहते।
कोलाहल से दूर शान्त नीरव शैलों पर
मेरा गृह है, जहाँ बच्चियों-सी हँस-हँस कर
नाच-नाच बहती हैं, छोटी-छोटी नदियाँ
जिन्हें देख कर जिन की मीठी ध्वनियाँ सुन कर
मुझे ज्ञात होता जैसे यह प्रिय पृथ्वी तो
अभी अभी ही आई है, इस में चिन्ता को
और मरण को स्थान अभी कैसे हो सकता!

मेरा घर

(१)

जहाँ विकल हिम शैलों से करते मृदु गुंजन झरने
जहाँ नील नभ की छवि को मेघ सदा लगते भरने
चीड़ों में गुंजन करती चलती मादक पवन जहाँ,
तरु छाँहों से ढके हुए खड़े हुए हैं भवन जहाँ,
थे रत्नों से शैल भरे, थी शैलों से भरी मही
हिमगिरि के अंचल में था मेरा घर भी यहीं कहीं!

(२)

आँगन में थी खड़ी हुई छोटी-सी दाड़िम डाली,
मधु को देख उमड़ आती थी जिस के मुख पर लाली!
मेरे घर पर चढ़ फैली थी द्राक्षा की एक लता,
और दूर कलरव करती जाती थी चंचल सरिता
लहरों में जिस के थीं हंसों की पाँतें तैर रहीं
इसी नदी के तट पर था मेरा घर भी यहीं कहीं!

अस्त व्यस्त

जिस दिन घर को सजा, गूँथ फूलों की माला,
रहता है मन बैठा द्वारों पर, आँखों में
देख दूर से आती तुम्हें, प्रतीक्षा भर कर,
उस दिन तुम विपिनों के बीच-न जाने गा कर
कहाँ चली जाती! मेरी आँखों की आशा
थक कर झर जाती, मेरे फूलों के मुख से
उड़ जाती चुपचाप हँसी, घिर आती संध्या;
और किसी दिन अस्त व्यस्त केशों को ले कर
भूल तुम्हें में मलिन वस्त्र पहिने आँगन में
खड़ा देखता जब नभ में उड़ते मेघों को
तुम जाने कब मेरे घर के भीतर आ कर
सजा वस्तुएँ मेरी, धर हाथों में फूलों को
और हँसी ओंठों में ले, मेरे द्वारों पर
आ कर मुझे बुलाती सरस सुमन्द स्वरों में!

मनोरम गुंजन

आज न कहा किसी ने मुझ को देख विपिन में
लिखो गीत उस सुख के जो इस सुन्दर दिन में,
हँसा है आँखों में मेरी, लिखो पत्र पर
मेरे मुख की छवि सजीव वर्णों में सुन्दर!
और न लिख सकने पर मेरी हँसी उड़ा कर
गई न कोई मेरे जीवन को लाञ्छित कर
आज शान्त एकान्त स्थान पर चिन्ता तज कर
मैं लेटा हूँ, मेरे ऊपर नीला अम्बर
है अनन्त सुख में निमग्न, पद-तल पर कोमल
दूर्वा, बार-बार मारुत-स्पर्श से हिल-हिल
करती है सुन्दर मर्मर, उठते हैं बादल
हिम-गिरि के ऊँचे शिखरों से, करती कल कल
बहती मन्दाकिनी चूम पुलिनों को अपने,
दूर किसी पीली घाटी में, जिस पर पकने
लगे धान अब, जहाँ सुरभि से मन्द समीरण,
कृषक कुमारी की अलकों में कोमल कम्पन
उठा रही है करती मन्द मनोरम गुंजन!

अपना रूप

देखा मैं ने अपना रूप घृणा से निश्चल,
भाव-हीन इन नयनों में— मैं हुआ न चंचल

रोम-रोम से मेरे उमड़ा आज न रोदन
आज न माना मैं ने निष्फल अपना जीवन,
प्यार किया करता था मैं अब तक प्राणों के
खल कलंक को, इसी लिए इन शुचि नयनों के-
घृणा-भाव को देख हृदय कर उठता क्रन्दन
था, उस जन-सा जिस का हो अति पावन जीवन
किन्तु पतित कहता हो जिस को जग निष्कारण,
आज घृणा करता मैं भी अपने से उतनी
प्रिय, इन नयनों में संचित रहती है जितनी !

दूसरा व्याह

वह मर गई ; उसे गंगा के तीर जला कर,
उसके पति ने कुछ दिन झूठा शोक मना कर,
किया दूसरा व्याह, बजाई मधुर बाँसुरी,
पहने कपड़े रंग-बिरंगे जिन्हें सुंदरी
नारी करती है पसंद ; दर्पण के सम्मुख
बार-बार जा, तरह-तरह से देख एक मुख,
हँस कर कभी, कभी गंभीर कटाक्ष पात कर,
कभी रूठ कर, कभी शान्ति के पुतले बन कर,
तिरछे होकर कभी, कभी मुड़-मुड़ कर चल कर;
कैंची से लम्बी मूछों को कुतर—कुतर कर,
और अन्त में मूँछ हीन बालक ही बन कर,
किया व्याह कर दुनिया का उपकार महत्तर !

जिसे जला आये थे वे गंगा के तट पर,
वह न लौट कर आई आँखों में विषाद भर,
कहती, रोती हुई "हाय ! दो ही दिन पहले
जो मेरे थे, किसी दूसरे के वे निकले !"
कहा न उस ने अपने पति से, "मुझे प्राणधन
भुला दिया तुम ने, सहसा ही क्यों कर, कठोर बन ?
मैं मर गई, जान यह ही क्या जीवन-सहचर !
किसी अन्य को लिया आज तुम ने अपना कर ?
तुम मरते यदि नाथ, और मैं जीवित रहती
तुम ने जैसा किया वही क्या मैं भी करती ?"
वह न लौट आई उन से कुछ भी तो कहने
इसीलिये लगे वे शान्ति औ सुख से रहने !

सार्थक जीवन

अपने सुख से जो सुखी रहे,
अपने दुख से जो दुखी रहे, वे जग में किस के लिये रहे ?
मन में न घिरे हों जब बादल,
उस समय धूप जिस के मुख पर, आदमी नहीं वह, वह पत्थर !
अपना दुख अपने नयन भरे ! अपना सुख जग के बीच फिरे,
दुख देख दूसरे का, उर में पीड़ा के पीड़ित मेघ घिरे !
अप्रैल १९३९ ई०

वेदना-गीत

बंधु मेरी है उपेक्षित वेदना !

इसे था कुछ भी नहीं कहना, माँगते थे और चातक स्वाति-जल,
इस हृदय को था न तब कुछ माँगना,
सदा नीरव ही रही यह वेदना!
पास ही जब पुष्प थे, मकरंद था,
यह न सीखा, रीझना, गुंजारना!
यह रहा प्यासा नदी के तीर पर,
अधर पर ले कर विनीरव वेदना!
है इसी से यह उपेक्षित वेदना,
गायगी मेरे मरण—सगीत को,
संगिनी मेरी मनोहर—वेदना,
यह उपेक्षित अश्रु-नयना वेदना!

(२)

हो गये अब प्राण परिचित वेदने! तुम से!
मिल गया उर एक विरही, विरहिणी तुम से!
तुम गई घर-घर किसी का उर प्रणय पाने!
तुम फिरी बन-बन किसी तरु का प्रश्रय पाने,
जिस तरह मुझ को जगत में नहीं प्रेम मिला!
उस तरह ही तुम्हें संगिनि! नहीं प्रेम मिला!
वेदने! दुख के नगर में वह करुण परिचय!
वह दृगों में निराशा के घनों का संचय!
बाँध प्राण गया हमारे था सदा को ही परस्पर;
यह जलेगा दीप जब तक, साथ ही रहना,

पूर्व की बन एक छाया, साथ ही चलना,
सो रहा हो प्राण निर्धन जब जरा थक कर,
तुम जगाना इसे सपनों में हलाहल पिलाकर,
पास ही उर के रुलाना तुम उसे निशि भर,
हँस रहे हों जब कभी ये अधर लघु फूल
तुम मृदुल दल चीर देना तब लगा कर शूल !

(३)

हो गये अब प्राण परिचित, वेदने ! तुम से !
अब तुम्हारे ही नयन जल से जलज विकसे !
अब तुम्हारी ज्योति का हूँ मैं शलभ पागल,
मस्त हूँ मैं पी तुम्हारी निर्झरी का जल !
देखता हूँ मैं बनों में तुम्हारी छाया,
पत्र-पत्र कुसुम-कुसुम में तुम्हारी काया !
तुम गिरी हो बाल-आभा-सी सरोवर पर !
तुम गिरी हो चाँदनी-सी हिम-शिखर पर,
वेदने ! तुम सदा छवि के फूल में बसती,
मृत्यु-सी तुम प्राण के हो साथ फिरती !

(४)

हाय मेरा वेदना से बना जीवन !
कहीं होता एक आँसू का सजल कण।
कभी ही वह छूट पलकों से धरा पर,
धूलि में गिर,बिखर जाता फिर न आता !

या विरह का एक होता राग ही यह,
जो करुण बन विश्व भर में फैल जाता,
अधर के लघु एक कोने से उमड़, जो—
दूसरे में समा जाता फिर न आता !

(५)

विश्व की प्रति कुंज में बस, कर रहे हैं अमर ध्वनियाँ
अश्रु से भर नलिन लोचन,
विश्व के कवि-गण मनोहर वेदना से भरी ध्वनियाँ !
वेदना के उन मनोहर गायकों के चरण तल पर बैठे मैं ने
हैं बिताई दीर्घ दुख की रजनियाँ
कुंज से मैं कुञ्ज में हूँ फिर चुका,
मैं सभी के करुण-स्वर हूँ सुन चुका,
हाय मेरी वेदना को पर न कोई गा सका !
आज सरिता के किनारे बैठ कर मैं सुन रहा हूँ,
कह रही तट से निराशा भरी तटिनी,
'कही कितनी बार मैंने निज हृदय की वेदना,
विश्व में कोई न मेरी वेदना पर पढ़ सका,
घिर अचानक हिमालय पर, करुण स्वर कर कह रहे घन,
'नयन रोये ये न जाने बार कितनी,
आँसुओं से भरी सौ-सौ बार धरणी,
रे सुनाई है सभी को निज हृदय की वेदना,
विश्व में कोई न मेरी वेदना पर गा सका !

जा रहे हैं दूसरों के द्वार पर, सब विश्व में,
जल खड़ा हो द्वार पर थल के सदा,
कह रहा अपने हृदय की वेदना!
थल खड़ा हो हिमालय के शीश पर,
कह रहा सूने गगन से प्रति दिवस की वेदना!
गगन-उर में वेदना के पुंज घिरते,
देख जिन को वसुमती के नयन भरते!
प्यार करता है हृदय इस विश्व में उस ही हृदय को,
सुनी जिस ने हो कभी अपने हृदय की वेदना!
विश्व के ईश्वर वही हैं
जो सभी की वेदना में हृदय से हैं रुदन करते,
जो सभी की वेदना को हैं समझते!
कवि वही जिन के स्वरों में
भरी रहती है हृदय की हार उर की वेदना!
चाहते हैं जानना क्यों, सब हृदय की
वेदना को, जो हृदय में छिपी रहती,
दृग, सदा जो विकल करती, जो सदा
उर में 'कसकती, देख उस को, जान उस को
क्या न फिर लोचन भरेंगे?
क्या न उर में तीक्ष्ण कंटक स-विष दंशन फिर करेंगे?
लाजवन्ती, स्पर्श से ज्यों, चेतना खो कर
धरा पर, कुछ क्षणों के लिये मरती,

क्या उसी ही भाँति उर की वेदना भी,
देख लेने पर दृगों से, फिर नहीं जीवित रहेगी ?

कहाँ खो गई

कहाँ खो गई जन समूह में वह मेरे बन की हरिणी ?
क्या न किसी ने पहिचानी वह प्रेम की हुई हरिणी ?
उल्लासों में भाग न लेती, रहती सदा अकेली,
बनी हुई निज मर्म-व्यथा से प्रिय को एक पहेली !
क्या न किसी ने देखी वह तरुणाई में सुख-विमना ?
पहिन मेघ की करुण सजलता, चिर वियोग की करुणा !
मैं खोजता हूँ मैं कब से, देश-देश में प्रति गृह द्वार,
किन्तु न जाने कहाँ खड़ी है वह पलकों में जल-कण धार?

रो रही है

रो रही है वह परा, निर्जन विपिन में,
आज चकवी-सी निशा तम से घिरी !
करुण स्वर कर बोलती है कोकिला,
सिसकती है, वायु चरणों पर गिरी !
सुन रुदन उस का, सुमन हैं गिर रहे,
पूछते हैं भृंग कानों पर व्यथा,
बाँह से भर शान्ति देने को उसे,
झुक रही हैं स्नेह से बन की लता !
लेट कर तरु के सहारे मुँह छिपा,

वह करों में - दुख से है काँपती !
शिशिर में बन-लता-सी, पीत पड़,
शशि-किरण सी अस्त गिर में गिरि रही !

ओस

कभी तुम्हीं सी हे मैं भी इसी धरा पर थी रहती,
प्रिय लगते थे मुझे प्रभात, प्रिय कोमल किरणें नव जात
प्रिय लगते थे ये तृण-पात, प्रिय थी मुझे पवन लगती,
अब नभ में है मेरा बास, अब रहती मैं सदा उदास,
अब सुन हा ! किरणों का हास, मैं घुल-घुल दुख से मरती
अब निशि में चुपचाप उतर मैं धरणी की पलकों पर,
देख पुष्प किसलय सुन्दर, दूर्वा पर सिर धर रोती !

अब कैसे

अब कैसे होगा मिलना ? छाया में पा जरा अकेले,
भूल लजाना, खिलना, निर्झर के पद पर आ पहिले
तरु-तरु के नीचे लखना, मुझे न पा घट उलटा पुलटा
गा-गा देरी करना, फिर अपने यौवन की श्री पर
मन्द स्वरों में हँसना ! मुझे देख फल खाने के मिस
तरु पल्लव में छिपना ! अब कैसे होगा मिलना !

मुझे पहुँचना

खोजते प्रेयसि तुम्हें अब थक गया यौवन,
यह रूकेगा अब यहीं पर नहीं यह जीवन !

मुझे चलना ही प्रिये होगा, तुम्हारी राह पर,
पहुँचना ही होगा प्रिये तुम्हारे द्वार पर ?

सोच कर

सोच कर प्रिय तुम अकेली रो रही हो,
सोच कर तुम अब मरण के देश में हो,
हो गया कितना मुझे सुन्दर मरण;
प्राण उस को चाहते करना वरण,
मैं मरण को खोज में हूँ फिर रहा,
घूमता निशि दिन अकेले पर्वतों पर
बुलाता प्यारे मरण को स्नेह से भर,
मरण की निशि दिन प्रतीक्षा कर रहा,
प्रिय मरण मुझ को कहाँ तुम भूल कर
सो रहे हो ? अब न और निठुर हृदय
बन रहो मुझ को शरण दो हे सदय !
मुझे अपनाओ परम प्रिय अंक में भर ?

आत्म क्रंदन

मुझे अंक में भरो प्राण-धन !
अवश करो चुम्बन से आनन, विवश करो आलिंगन से तन,
दूर करो लज्जा के बंधन, मुझे अंक में भरो प्राण-धन,
रुको न सुन कर मेरा वर्जन, समझो सत्य न मेरा रोदन,
शिथिल करो न सुदृढ़ आलिंगन, मुझे अंक में भरो प्राण-धन,

पहचानो अन्तर अन्तरतम, सुनो मर्म की बाणी प्रियतम !
सफल करो युग-युग का क्रदंन-मुझे अंक में भरो प्राण, धन !

प्यार करो

प्यार करो मेरे जीवन को, प्यार करो हे प्यार करो
मेरी बाँहों को निज उर का हार करो हे हार करो
मेरे कंपित अधरा में हे निज अधरों का अमृत भरो !
अपने मधुर रूप से शोभन, यह उर, यह संसार करो !
प्यार करो मेरी कटुताएँ, प्यार करो हे प्यार करो !

शीघ्र ही

शीघ्र ही मेरे अधर नीले पड़ेंगे !
शीघ्र ही असहाय हो मेरे मरण से,
घेर मुझ को दुःख-दल रोदन करेंगे !
मैं व्यथा अपनी सखी को देख कर,
पास ही रोती, न समझा पाऊँगा,
जो बजी मेरे हृदय में कंप-सी,
मैं उसे ही विसर कर सो जाऊँगा,
देख उस का दुख न मेरे दृग झरेंगे,
शीघ्र ही मेरे अधर नीले पड़ेंगे !

१४ मई १९३९ ई०

जब मुझे

जब मुझे ऐसा बना दे प्रिय मरण,

ये तुम्हारे नूपुरों से गूँजते मंथर चरण,
मुझे निद्रा से न मेरी जगा पावें,
जब तुम्हारे प्रेम से होते प्रकंपित पाणि-पल्लव,
मुझे तन्द्रा से न मेरी जगा पावें,
तब न तुम हृदयेश्वरी होना मलिन मन,
समझना अपराध हूँ मैं कर रहा,
हूँ उपेक्षा जान कर ही कर रहा!
और मुझ को तुम कठिनतम दंड देना,
भूल जाना, समझना मुझ को विरह के पास का घन,
जो उठा था अंध नभ में तुमुल रव से
और पीड़ा दे किसी को गिर गया झर,
फिर न उमड़ेगा कभी जो नील नभ पर!
समझना मुझ को व्यथा का एक आँसू,
स्वप्न में जो था गिरा, पर जागने पर
जो हँसी को म्लान कर सकता न गिर कर!

एकान्त लख

एक दिन एकान्त लख जब खोलने
घूँघट लगी, विजन में वह सुन्दरी,
प्रेम की ज्वाला जगी, उस के हृदय में
जब पिपासा से भरी; मृत्यु आई तभी सहसा;
देख कर वह सुन्दरी, लगी रोने
करुण स्वर से, प्रेम की उन्मत्त लहरी,
मर गई ज्यों मधुर नलिनी तीक्ष्ण हिम से,
एकदिन एकान्त लख जब खोलने घूँघट लगी!

सुन किसी से

सुन किसी से यह कि मैं अब मैं हूँ नहीं,
यह कि मैंने छोड़ दी है यह मही,
जहाँ मुझ को देख ही थीं तुम दुखी,
राहु का धर ध्यान जैसे शशि--मुखी,
सुन किसी से यह कि अब मैं लौट कर
आ नहीं सकता तुम्हारे द्वार पर,
तुम हँसोगी और सुख से भूल कर,
उसी को दोगी हृदय का प्यार सुन्दर !
किन्तु सुन यह भी कि अन्तिम समय ये
अधर जपते थे तुम्हारा नाम ही,
खो मुझे प्रिय,तुम कभी रो भी पड़ोगी !

घाटियों में

प्रिय तुम्हारी घाटियों में चातकी रोती सदा।
चातकी रोती सदा मेरे हृदय-तल की व्यथा !
प्रिय तुम्हारे पर्वतों में सदा हँसते स्वच्छ निर्झर !
इस हृदय के गह्वरों से फूट सहसा
मधुर आशा भरे गीतों से मनोहर स्वच्छ निर्झर !
घेर तुम को पुष्प हँसते, चरण-तल पर तुम्हारे !
मेरे हृदय में उगी दूर्वा के सुकोमल प्राण बिछते,
हवा तुम को प्यार करती, प्रेम-मत्ता हँसिनी-सी,
पंख खोले, मंद गुञ्जन कर तुम्हारी अंग-लतिका घेर उड़ती;
धन्य वे तरु, छाँह में जिन की कभी तुम श्रान्त हो कर बैठ जाती
धन्य वह छाया, तुम्हें जो हृदय पर अपने सुलाती !
धन्य वे पथ, जो पदों के मृदुल चिन्हों को तुम्हारे,
हृदय पर रखते सँभाले !

धन्य वे गिरि, धन्य वे बन, धन्य वह निर्जन बनानी !
जिन्हों ने तुम को बनाया है हृदय की राज-रानी !
धन्यतम वे कुसुम जो छिप कर बनों में,
देख अपलक मुख तुम्हारा शनै भू पर बिखर जाते,
सुरभि से व्याकुल तुम्हारे हृदय को कर एक क्षण-भर !

पुरातन नगरी (नागनाथ)

ये बाँज पुराने पर्वत से, यह हिम से ठंडा पानी !
ये फूल लाल संध्या से भी, इन की यह डाल पुरानी !
इस खग का स्नेह काफलों से, इस की कूक पुरानी !
पीले फूलों में काँप रही, पर्वत की जीर्ण जवानी !
इस महा पुरातन नगरी में, महा चकित यह परदेशी,
अनमोल कूक, झँपती झुरमुट, गुंजार अमोल पुरानी !

झँपती झुरमुट

हो उठे नयन कितने उदास ! झँपती झुरमुट के आस-पास !
संध्या के कंपित पत्र चरण, अब मेघों में करते विचरण,
उठता गलता पुंजित तुषार, लहरों में फूल रहा अपार !
गिरि के मस्तक पर नील व्योम, उफनाता मंथित थकित सोम
सुधा-स्नान करता हिम-प्रदेश, कूजन में दिन सब हुआ शेष !
सरिता से गिरि दस मील दूर, आकाश शान्त, गिरि सुदूर,
आकाश और गिरि शृंग-बीच,
है तैर रहा शशि, अमृत सींच !
फैला बाँहों से बाँह मिला ये शुभ्र अभ्र भ्रू चरण हीन,
पर्वत पर सोने जाते हैं, चन्द्र लोक को बंधन विहीन,
केशों में छिपते हैं किरीट, उड़ अम्बर में बनती लकीर,
उड़ते रेशे मणि बन-बन कर, तारों में उड़ते, उड़ा चीर !
गिरता, पर्वत का हरा गात, तिरछी फिसली-सी शरद-रात !

यह धीर चीड़ पल्लव अधीर, है खड़ा, कठोरा भूमि चीर !
हैं कटी सहस्रों मुड़ी बाट, जिन पर पहले पाषाण काट,
कानन में करने को शिकार, ले कर नयनों में क्षुधा ज्वाल,
आये होंगे बर्बर नर, कर में ले पैने पत्थर कराल;
मिल गई चीड़ में यह करील दे दे कर उस को नये फूल !
उस की बाँहों में डूब गये, मधु के सहलाये तीक्ष्ण शूल !
निर्मित कर के लघु दीन कुंज, दोनों रहते हैं एक साथ,
फल लाता है उत्तुंग चीड़, देती प्रसून वह प्रति प्रभात,
तरु के तल पर मंडप निर्मित, जिस पर फैली चाँदनी मौन !
गिरि-गिरि से झरनों की गिरती रस भरी उमड़ती घटा मौन !
घुलता जाता ज्योत्स्ना-प्रवाह, आन्दोलित अहा यह महाकाश !
उठ रहे उर्मियों के बादल, बाँहों में थक गिरते बिलास,
हो उठे नयन मेरे उदास, झँपती झुरमुट के आस-पास,
आती है भूली बात याद, अपना प्रमादमय वह विषाद,
परिचित-सी है यह दृव गंध, परिचित है गिरि यह चीड़-डाल
छोटे आँगन की वही स्कूल, साक्षी ऊपर ये गिरि विशाल !
होता मुझ को कुछ यही भान, हाँ है अवश्य यह वही स्थान !
जागो जागो हे व्यथित प्राण ! जागो बालक के बाल प्यार !
जागो बाला के हास-हार ! जागो हे तरुणी के गुलाब !
तितली के पंखों को पसार, घुटनों में सिर लो दबा देख-
इस जलते बन को एक बार, फिर न रुकेगी अश्रु धार !
गिरि पर चढ़ने में तुम उदास ! चाहिए तुम्हें थी शीत छाँह,

दे सकती थी क्या परित्राण, तब तुम को मेरी बाल बाँह !
मकरंद-मत्त उस प्रिय आनन में अब डूब गया छवि शुभ्र सोम,
मुझ को क्या वह नीचे का गिरि !
ऊपर का ऊमड़ा शुभ्र व्योम !
मेरे लोचन हैं हे उदास, झँपती झुरमुट के आस-पास !

काफल-पाक्कू

(१)

हे मेरे प्रदेश के बासी !
छा जाती बसन्त जाने से जब सर्वत्र उदासी,
झरते झर-झर कुसुम कभी, धरती बनती विधवा-सी,
गंध-अंध अलि हो कर म्लान,
गाते प्रिय समाधि पर गान
तट के अधरों से हट जातीं जब कृश हो सरिताएँ,
जब निर्मल उर में न खेलती चंचल जल मालाएँ !
हो जाते मीन नयन उदास,
लहरें पुकारतीं प्यास-प्यास !
गलने लगती करुण-स्वर से जब हिम-भरी हिमानी,
जब शिखरों के प्राण पिघल कर बह जाते बन पानी,
बाकी रहते पाषाण खंड
जिन पर तपता दिन कर प्रचंड
सूखे पत्रों की शय्या पर रोती अति विकल बनानी !

छाया कहीं खोजती फिरती बन-बन में बन रानी !

जिस के ऊपर कुम्हला-किसलय,
गिरते, सुख से हो कर के क्षय;

उसी समय नभ के अन्तर से सरस्वती धारा-सी,
लेकर तुम आते हो हे खग, हे नंदन-बन-बासी !

प्लावित हो जाते उभय कूल,
धरती उठती सुख सहित फूल,

पी इस मधुर कंठ का अमृत खिल उठती बन-रानी,
लता-लता में होने लगती गुंजित गई जवानी !

तुम शरच्चन्द्र से मधुर किरण,
आलोक रूप तुम अमृत कण,

किसलय की झुरमुट में छिप, सुधा-धार करते वर्षण.
सुनती वसुधा ग्वाल बालिका-सी हो कर के प्रेम-मगन!

रख मृदुल हथेली पर आनन,
सुख से मूंदे वे मलिन नयन!

शैलों से उतर उतर आतीं नीरद निवासिनी परियाँ,
बजतीं मधुर स्वरों में जिन के चरणों की पैंजनियाँ,

ग्रामों से आती मुग्धाएँ,
कोकिल कंठीं प्रिय लतिकाएँ,

क्षण-भर में कर देते तुम खग, इस पृथ्वी को नंदन,
जहाँ अप्सराएँ करती हैं छाया में संचारण!

कानों में बजते हैं ककण, आँखों में करता रूप रमण !
फूले रहते हैं सदा फूल, भौंरे करते निशि-दिन गुंजन !

(२)

मेरे हिम-प्रदेश के वासी !
जन्म भूमि तज दूर देश में रहने लगा प्रवासी !
सावन आया दुख से मेरे उमड़ी अतुल उदासी !
बरसी झर-झर-झर अश्रु धार !
शैलों पर छाया अंधकार !

लख उत्तर की दिशा जल भरे मेघ मनोहर उड़ते !
पल-पल में चपला चमकाते, शैल-शैल पर रुकते
पीछे को लखते बार-बार !
बरसाते रह-रह विन्दु-धार !

मैं घायल पर-हीन विहग-सा, किसी विजन में मन मारे,
किसी तरह रहता था रो-रो कर निज जीवन धारे,
उर में उठतीं बातें अनेक,
मैं कह पाता था पर न एक,

एक अँधेरी रात बरसते थे जब मेघ गरजते,
जाग उठा था मैं शय्या पर दुख से रोते-रोते
करता निज जननी का चिन्तन,
निज मातृ-भूमि का प्रेम स्मरण,
उसी समय तम के भीतर से मेरे घर के भीतर.

आकर लगा गूँजने धीरे एक मधुर परिचित स्वर-
'काफल-पाक्कू' 'काफल-पाक्कू'
'काफल-पाक्कू' 'काफल-पाक्कू,
स्वप्न न था वह क्योंकि खोल कर वातायन मैं बाहर-
देख रहा था बार-बार सुनता वह ही परिचित स्वर;
उर में उठता था हर्ष-ज्वार !
नयनों में गिरती पुलक-धार !
मै तो विवश यहाँ आया हूँ, पर यह कैसे आया ?
क्या मुझ को मेरी जननी का है सन्देश कुछ लाया ?
मुझ से कहने को आज रात.
आया जो यह आशा-प्रभात ?
अथवा क्या वे शैल बह गये. जिन में यह था गाता,
उखड़ गये वे पादप जो थे इस के आश्रय दाता ?
क्या उस बन में लग गई आग ?
आया जो यह निज विपिन त्याग ?
हिम-पर्वत का क्या सब तुषार,
बन गया सलिल को तरल धार ?
रह गये शेष नंगे पहाड़
हिम - हीन—दीन—सूखे - उजाड़ ?
बच पाया क्या कोई न भाग ?
जो आया यह हिम शैल त्याग !

(३)

हे मेरे प्रदेश के बासी !
एक बार फिर कंठ मिला कर गाने का हूँ अभिलाषी,
अतल गीत-गंगा विस्मृत करने को यह उपल उदासी !
पाने फिर वह जीवन-प्रभात,
नव स्वच्छ गगन स्वर्गीय वात,
कितनी बार तुम्हें जीवन में मैं ने पास बुलाया,
किन्तु न जाने तुम को भी क्यों आना कभी न भाया !
मैं जितना आता पास-पास,
उड़ते तुम उतना स्वास-आश !
कहाँ खो दिया तुम ने अपना सरल हृदय हे सुन्दर !
किस मानव ने तुम्हें दिखाया सोने का पिंजर !
होने पर भी जीवन-समान,
क्यों रहते हो तुम दूर प्राण ?
तुम दिन भर तरु के कानों में अपनी विरह-व्यथा कहते,
मुझे देखते ही सहसा क्यों तुम रुक कर चुप हो जाते ?
तुम सदा जानते हो कुमार,
कितना करता मैं तुम्हें प्यार !
कल ही जब आँधी आई, तरु पर तुम डर कर बोले,
तुम्हें मार्ग देने को मैं ने निज गवाक्ष-पट खोले,
भीगे पंखों में रख आनन,
क्यों दुरा दिए तुमने लोचन ?

मेरा कुम्हलाया आनन लख, लख कर मेरे साश्रु-नयन
हँसकर आह ! कर गये हो तुम क्यों विषम विवश बन्दी जीवन?
क्यों भूल गये अभ्यस्त गीत ?
क्यों भूले सहसा प्रेम-प्रीत ?
तुम तो वही जो देते थे मुझे आशीष समुद मन,
जब माँ के चरणों पर करता था मैं अर्पित जीवन !
जीवन में मैंने प्रथम बार,
जीवन भर को था किया प्यार !
भूल गया धीरे धीरे मैं जननी के प्रिय चुम्बन,
इन लहरों के साथ बह गया मेरा वह मृदु जीवन !
सुन्दर था तुम से बाल्य-काल,
यह भी हो पाता हे विहग-बाल !
एक विपिन में रह कर भी तुम दूर रहे हे प्यारे !
यह हृदय-कुसुम फूलेगा अब किस के स्पर्श--सहारे !
फैला है सब पर वही गगन,
छूता सब को वह एक पवन,
फिर क्यों आह मुझे अकुलाहट ? क्यों मुझ को ही पीड़ा !
क्यों मुझ को उन्मन पागलपन; तुम को इतनी व्रीड़ा !
मैंने पाया है अविश्वास !
भय घृणा यह दारुण उपहास !
तुम्हें कभी विश्वास न होगा अब ऐसी मानवता पर!

तुम्हें कभी मैं देख न पाऊँगा अपने इन हाथों पर !
मेरी मानवता मुझे शाप !
मेरी मानवता मुझे पाप !!
अब कैसे मानव मैं तुम को हे प्रिय पास बुलाऊँ ?
गुञ्जन स्वर में हृदय चीर कर कैसे आज बताऊँ ?
होता मैं भू पर झरा फूल,
तज कर डाली के तीक्ष्ण शूल,
तब तो तुम आँसू भर मेरी सुख-समाधि पर गाते ?
तब तो दल उस रोमिल उर का मृदु स्पर्श कर पाते ?
मेरी तृष्णा बन पाती बन में पल्लवित कोमल डाल,
तब तो तुम उस शय्या पर रह निशि भर गाते विहग-बाल ?
हो पाते मेरे आँसू यदि मेघों के ये झरते लोचन,
तब तो, हे मेरे प्रिय ! मेरे आँसू धोते तेरा आनन ?
हो पाता यदि मैं खगकुमारे,
क्यों रोता तब यों बार-बार !
क्यों होता मैं प्रति पल अधीर !
क्यों बहता अब तक अश्रु नीर !!

जून १९३६ ई०

अवहेला

हार गई वह किन्तु काव्य चिन्ता को तज कर,
मैं न उठा सोने निद्रा के साथ शयन पर-
और विकलता की उस की कर के अवहेला

अश्रु भरे नयनों से उस मधु-निशि की वेला-
रहा बिताता चिन्ता के सुकाव्य पर झुक कर,
रही देखती वह चुपचाप . खुल गया अम्बर,
एक एक कर लगे खिमकने नभ से तारक,
हुए मलीन भवन के उज्ज्वल दीप अचानक,
चौंक उठा मैं, देखी मैंने पड़ी सेज पर,
शयन-सखी निद्रा नयनों में मधुर क्लान्ति भर !
चूम, प्रिया की पलकों का निश्चिन्त सांस भर
मैं सोया जब जाग रहे थे पृथ्वी में स्वर !

ढलती छाँह

अस्ताचल की ओर ढल रहे सूरज धीरे-
चमक चली जाती लहरें चचल कलरव कर
तट की ओर उछल उज्ज्वल मुक्ताओं में झर,
मिल जल के भीतर कुछ दूर दौड कर छिप कर,
सहसा ही सिर बाहर कर सोल्लास उमड़ कर,
बाँहों में कोमल बाँहें भर किसी भँवर के
चारों ओर नाचती हँसती-हँसती जी भर !
हो एकाग्र चर रहे पशु फैली दूर्वा पर
नाच रहीं चंचल पूंछें बजती हैं अविरल
मजु घंटियाँ कंठों में, छाया के नीचे
पड़ी हुई हैं निद्रित-सी रोमन्थन करतीं

अलस भाव से आतप से कुम्हलाई भेड़ें !
मन्द पवन बह रही आम्र वृक्षों के नीचे,
मृदु कंपित करती केशों को-पत्र वनों को,
सहसा ही चंचल कर देती और उन्हीं को,
कम्पन में विलीन हो जाती धीरे धीरे !

भीम मनोहर

गिरी धरा पर घन की काली छाया,
पर्वत के शृंगों पर नभ से आया,
नभ स्वान से घन का गर्जन,
पंख फड़ फड़ा उठे खगों से देवदारु बन,
लगी हर्ष की मदिर तरंगें बहने, धीरे धीरे जल धाराएँ गिरने,
आये घन, बन-शोभा के नव तन पर
शृंगों पर वर्षा के जलद उतर कर,
लगी विचरने अवनी पर घन रजनी,
बन-श्री डूब गई गिरि पर ज्यों शशिनी,
बुझी वह शिखा, दमकी दीप्त दामिनी
घिरी घोर घन प्रलय-यामिनी!
उठीं प्रलय रव करतीं क्षुब्ध तरंगें !
महाकाल के उर की प्रलय उमंगें !
फैला फुफकारें वसुधा भर में फिर बरसी बौछारें !
बड़े बाज के तीव्र वेग से बादल,

लड़े पवन से मेघों के दल के दल
नाचे ,वज्र करों में, निकली ज्वाला को कराल लपटें अधरों में,
महाकाल का तांडव नृत्य गगन में
भीम मनोहर भैरव गान गगन में,
उल्का ज्वाल गगन में महाप्रलय का धूम्र केतु उन्मत्त गगन में!

झूमे बादल

झुक झूमे बादल धरा ओर, नाचे बन बन के नवल मोर,
फुहियाँ बरसीं मिल जल सरसी, साकी भर दे हाला किशोर,
झुक झूमे बादल धरा ओर, नाचे बन बन के नवल मोर !
विद्युत बाला का मधु स्फुरण,
निरुपम बिलास, निरुपम वरण,
बंकिम चितवन बंकिम रेखा हृदय हरण,
विद्युत बाला का मधु स्फुरण, निरुपम विलास, निरुपम वरण,
शीतल छाया की सी-समीर, चलती तटिनी के तरल तीर,
लाती जल कण, अकुला नयन, चुभा सुप्त बाला के तीर,
शीतल छाया की-सी समीर, चलती तटिनी के तरल तीर
ऐ सिहर रहा थर थरा गात, जीवन विलास का यही प्रात,
यह प्रथम दिवस वर्षा सुवात
यह श्रावण की सीरी सुखद बात
बस इसी कुंज में घनाकार है जहाँ अँधेरा महाकार
हो रहा मिलन प्रान्तर निर्जन दे रहे परस्पर जुड़े प्यार,

उमड़ी सरिता बहती-पद-पद पर छोटी-छोटी धारें नश्वर
यह मधुर मिलन, उतप्त मिलन, होगा प्रेयसि यह सदा अमर!

रिषि-पर्णा

शापित दानव वे शैल नहीं, जिन के उर में जल-धार नहीं!
नयनों में अभ्र तुषार धवल, देने को पर कुछ प्यार नहीं!

किन्नर-कवि

इन शिखरों पर लेटे देख अनेकों बादल,
सूर्य्यातप में पर फैला कर हिम पर कोमल,
कई सानुओं में गज-गति से विचरण करते,
लख कुछ केसर-भरी घाटियों ओर उतरते,
बैठ हिमालय एक तुम्हारे गिरि पर पावन,
जिस किन्नर ने मुक्त कण्ठ हो गाया गायन,
वह था एक देवता, उस का राग अमर था;
वह गीत सुनसान पर्वतों के शिखरों पर
बहता नव-समीर-सा बादल-पर फैला कर
शून्य घाटियों में मधु रस की बरसा करता,
अपने स्वर से मूक हिमालय मुखरित रखता,
फिर वसन्त में फिरता था भागीरथी तट पर,
देवदारु के गिरि-बन में एकाकी सुन्दर,
एक अमर कवि, जब शिखरों पर कज्जल जल-धर,
झुके हुए थे नील कर रहे उच्चगिरि-शिखर,

वह कवि बैठ एक स्फटिक की स्वच्छ शिला पर,
लगा देखने तुम्हें हिमालय, सुचकित होकर,
मधुर मेखला तक करते संचरण सघन-घन;
बरसाते घन कुहरा, अंधकार नव जल कण!
और शिखर पर फैली किरणें कान्त सुनहलीं,
जहाँ धूप सेवन करती सुर-सिद्ध-मंडलीं,
देख दृश्य यह त्रिभुवन मोहन प्यारा न्यारा!
उमड़ी कवि के उर में नव गीतों की धारा,
मानव-कंठों में उस दिन के गीत मनोहर,
बसे रह गये, भूल न पाये चारु मनोहर!

शुभा गिरा

अर्द्ध विकसिता शशिनी-सी नीले नभ-जल में,
देखी मैं ने शुभा गिरा, वन-वासिनि सरला!
गिरती-सी धीरे-धीरे हिम-गिरि-गह्वर में,
कंपित वसना, वह मुसकाती मोती धवला,
नव तपस्विनी सीता-सी; खुल गया विश्व-दल,
सुरभि सदृश निर्मल प्राण स्वच्छन्द बन, लगे
मँडराने नभ-तल पर, छूने पद-तल कोमल
तारे—तारे से परिचय संबंध अब जगे
प्रति विराध में वह गंधर्व—शरीर मनोहर!
प्रति जड़ पत्थर में गौतम-संगिनी अहिल्या!

हँसी-हरण से पाप-नाश, औ अमर कलेवर,
हुआ अलक्षित, नारि-नारि बन कर कौशल्या,
मुझे चूमने लगी नयन गोदी में भर-भर,
आदि सृष्टि के साम गीत गूँजे उर-तल पर !

सूना नभ

तारे लगे झरोखों से चाँदनी देखने.
जिस के अंग लगे थे धीरे धीरे खुलने,
और लगे कितने ही उस शोभा में घुलने
आज खिलेगी नहीं चाँदनी सूने नभ पर
नहीं जानते यह, ये प्रेमी तारे सुन्दर !

अतृप्ति

देख कर भी रात-दिन मैं, स्वर्ग-सुंदर
हिमालय से प्राण अपने भर न पाया,
नयन में वह चारु शोभा धर न पाया,
धन्य वे जन एक बार उसे निहारा,
औ, दृगों में बस गया सौन्दर्य सारा,
आमरण बहती रही आनंद धारा !
किन्तु मैं प्रति दिन हिमालय देख कर भी
सदा भूला ही, नयन में धर न पाया !

शकुन्तला

मैं शकुन्तला पढ़ते-पढ़ते पहुँच निद्रा के आश्रम में,
परदेशी देख शिखी बोला, उत्तेजित हो तीखे स्वर में,

वह विरहकृश मालिनी पकड़ मेरी छाया निज अंचल में,
चुपचाप निरखने लगी सिमिट निज कूलों में, छिछले जल में,
पतझड़ प्रभात था, बिछे हुए थे पल्लव तरु से गिर, पथ पर,
पद रखते ही रो उठते थे वे चूर-चूर हो मर्मर कर,
थे शकुन्तला के दारुण दुख से दीन खड़े बन के तरु बर,
सूखी बाँहों वाली छाया थी गिरी हुई उन के पद पर,
मैं दुर्वासा के शाप सदृश था घूम रहा, उस आश्रम में,
जो वज्र-सदृश ही सदा रहा, अभिनन्दित हुआ न जीवन में,
मैं जहाँ गया, पीछे-पीछे मेरे आया उर्मिल रोदन!
बस एक मृत्यु की साँसों ने ही किया था अभिनंदन!
गिरि के शृंगों से थी लौट रहीं किरणें दुर्बा पर नीचे को,
गिरि के पैरों पर पड़ी हुई मालिनी नदी से मिलने को,
वह था प्रभात, पर आश्रम में थी निशि की नीरवता छाई,
थे मौन खगों के मुखर कंठ, देते न तपोधन दिखलाई,
शून्य नदी के उन घाटों पर सूनापन था करता स्नान,
था कभी-कभी मारुत आता, जाते देख आश्रम के प्राण,
काश्यप क्या छोड़ गये आश्रम? मुझ को संदेह हुआ सहसा,
जो वेद-मुख आश्रम लगता था, एक उपेक्षित बीहड़-सा!
मैं लगा देखने खोया-सा, आश्रम की मरती सुन्दरता!
संध्या-गिरि-सा, नभ के उर पर मरती किरणों की कोमलता,
मैं ने सहकार भुजाओं में देखी बन-ज्योत्स्ना कुम्हलाई,

अज की बाँहों में इन्दुमती-सी पुष्पघात से मुरझाई !
गिरते थे एक-एक कर के उस के जीवन के सब किसलय,
दल—दल करते थे बिखर रहे,
उस के जीवन के सब किसलय !
जग की सुन्दरते ! हे शन्कुतला की प्राण—प्रिये !
हे कल्प-लते ! मानव-मन से ! हे शकुन्तला की उर छाये !
क्या तुमने भी सुन ली दारुण वह,शकुन्तला की त्याग कथा?
जो असमय ही तुम जाती हो, हो कर सहसा ही वज्र-हता!
अब जग को किसलय देने में, क्या सुख होगा वासन्ती को !
अब गाने में क्या सुख होगा रति-पति के धनु की भ्रमरी को !
किस का मुख लखने आवेंगी, अब भू पर हिम की किरणें !
सहकार भुजाएँ नत होंगी, अब से किस प्रेयसि को मिलने !
मैं आँखों में आँसू भर कर रहा देखता बन-ज्योत्स्ना को,
पर्वत के पीछे डूब रही, पीली प्रभात की ज्योत्स्ना को !
इतने में मुझे सुनाई दी, प्राणों में चुभती-सी सिसकी,
उर विद्ध हरिण-सा विकल हुआ, आँखों में कठिन व्यथा झलकी!
पास ही एक झुरमुट भीतर, मैं ने देखी दो छायाएँ,
पेड़ के सहारे पड़ी हुई, मृत-सी आश्रम की कन्याएँ ।

श्रीराम-निवास [१]

वहाँ सुबह ही आ जाती थी धूप, शाम तक

१—डाली गंज लखनऊ में हसन गंज पार में यह घर है

वह रहती वहीं घूमती कभी खिड़कियों
के डंडों को पकड़ झूलती, कभी किवाड़ों
के बाहर हो खड़ी, सुराखों की राहों से
हँस हँस कर कमरे के भीतर सोने की सी
पतली कोमल दृष्टि गिराती, वहाँ हवाएँ
करती रहती थीं हर घड़ी मनोहर गुंजन,
दीवालों पर टंगे हुए कुर्तों की बाँहें,
कभी हिलाती कभी लीडरों की तस्वीरों
को हलके झोंके देती, चुपचाप कभी आ
खुली किताबों के पन्नों को पलटा जाती;
सड़क सामने थी उस घर के, जिस के ऊपर
भूले भटके आ जाते थे इक्के वाले,
शून्य स्थान था वह, जिस में हम तीन जने थे
एक साथ रहते,[1] तुम शुक-से, पढ़ते ऊँचे स्वर से,
गोस्वामी[2] जी के पीछे तुम बुरी तरह से
लगे हुए थे भरी हुई थी मेज तुम्हारी
गोस्वामी जी के ग्रन्थों से, जितना ज्यादा
तुम पढ़ते थे, [3]भ्राता उतना ज्यादा सोते थे,

---

१ — शंभुप्रसाद बहुगुणा

२—तुलसीदास

३—गुलाब सिंह राणा

निश्चिन्त भाव से, अपने मुँह को ढक कर,
और, कभी तड़के ही 'जुपलू भाई' अपनी
बन्दर-मार-छड़ी' को लेकर थे आ जाते,
छोड़ चप्पलें दरवाजे पर, कमरे में दाखिल हो
करते लग जाते थे वे गरम-गरम बातें,
और बन्दरों की मत पूछो, बिना बुलाए
वे आ कर के थाली से रोटी ले जाते,
महाराज को कभी डराते 'खों-खों' कर,
दर्पण कभी चुराते, और कभी चम्मच ही,
ऊधम करते, उछल मचाते, कूद मचाते,
पाइप के ऊपर चढ़, उसे खोल पानी पी,
उसे खुला ही रहने देते शैतानी से!
अरे! बड़े ही थे बदमाश वहाँ के बन्दर,
एक रोज तो मबजी ही उठा ले गये,
पर अच्छा ही हुआ, किसी का भला तो हुआ!
खुली हमारी रहती थी खिड़कियां, जो कभी
हर लाती थी आँखों के आगे मेघों को
कभी चुरा बिजलियां कभी बहका तारों को!
भादों में जब झूम-झूम थी घटा बरसती,
तब सुन पड़ती थी, कजरी[1] की मीठी तानें,
आस-पास, घर-घर में तब ढोलक थे बजते!
थी चूड़ियां छनकतीं, और, लोग थे गाते!

१—यशवंत सिंह नेगी

एक रोज जब शरद हास था भू पर छाया;
तना सामने एक शामियाना, पृथ्वी पर,
बिछीं दूब पर दरियाँ, और बड़े लट्ठों पर,
गैस-लैम्प जल उठे, मुहल्ले के सब आये,
कजरी की धुन सुनते-सुनते, रात-बिताने;
कितना मीठा था स्वर! उस छोटे लड़के का.
वह कोयल-सा, रहा रात भर कजरी गाता;
खड़े-खड़े, चुपचाप, मधुर गीतों को सुनते,
वह पहली ही रात बिताई इस जीवन में.
इन उनिद्र आँखों में केवल एक रात ही
रहा वहाँ वह सुख; फिर आमों की बौरों में
गिर गये भूले; लड़कियों ने छाया में
गाए कोमल गीत, खिड़कियों ने वे प्रिय स्वर
पहुँचाये कानों में, बीते इसी तरह दिन;
आ पहुँचा हेमंत, सामने खेतों में लगी-
गोभियाँ, हम ने बन्द कर दी खिड़कियाँ,
चले गये कुछ दूर हवा से, और धूप से
बढ़ा दिया कुछ प्रेम, देर थोड़ी-सी कर दी,
उठने और नहाने में; चुटकियाँ मारते
ही दिन जाने लगे, न काटे कटने वाली
रातें फिर आ गईं; भली ही थी वह मौसम

पर न रह सके साथ-साथ हम बहुत दिनों तक
उस मकान में, हमें अलग तो होना ही था !
आज यहाँ मंदाकिनी के इस सुन्दर तट से
हरे-भरे खेतों के बीच छाँह में बैठा,
मैं बाँसुरी बजाना थोड़ी देर भूल कर,
भेज रहा 'श्री राम', 'भवन' अथवा 'निवास' को
अपना आधा बरस, इसे स्वीकार करें वे ;
और कभी यदि फिर मैं लखनऊ को आ जाऊँ,
मुझे एक दो दिन वे अपने पास जगह दें !

मार्च १६ ४१ ई

एक कुत्ता

रात पड़ गई चारों ओर गोमती-तट पर
लगीं बोलने तीक्ष्ण झिल्लियाँ और हवा में
लगे काटने चक्कर बड़े-बड़े चमगादर,
चला गया था शरद, गगन में अन्धकार था,
पृथ्वी के मुख पर छाया था कुहरा दुस्तर,
इसी समय गोमती-बाँध से धीरे-धीरे
घर को आते समय, धूलि से भरी राह पर
पड़ा हुआ देखा मैंने छोटा-सा कुत्ता,
मुँदी हुई थीं आँखें उस की पूँछ शिथिल हो
पड़ी हुई थी शुष्क धूलि में, हाथ पैर थे

आस-पास बिखरे शरीर के कटे हुए से,
वह था एक श्रान्त सैनिक-सा जो जीवन-भर
कर अविराम युद्ध जीवन से, क्षत विक्षत हो
अन्तकाल में लेट गया था गहन मृत्यु के
दीप-हीन प्रांगण में हार मान कर अपनी;
मुंदी हुई आँखें थीं उस की, उस ने जीवन
ऐसा देखा था, जिस को वह किसी भाँति भी
फिर न चाहता था पल भर भी कहीं देखना
भय न शेष था अब कोई निश्चल प्राणों में,
क्यों कि शेष आशा न कहीं थी, इसीलिये तो
मोटर के भोंपू सुन कर भी निर्भय हो कर,
पड़ा हुआ था वह जीवन से निस्पृह हो कर
गंध दूर खाने की सूँघ, लोभ से उस की
जीभ न अब टपकेगी, अब उस ने जीवन में
थी विजय प्राप्त कर ली, रोटी के टुकड़ों के
लिए न मार सहेगा वह सौ-सौ डंडों की,
ओ मानव! कठोर मानव! दुर्बल था तो भी
वह था मित्र तुम्हारा ही तो, इसीलिए तो
सह इतने अपमान, ताड़ना इतनी, फिर भी
वह आता था लौट तुम्हारे ही द्वारों पर,
आह! गोमती के तट पर चुपचाप धूल में
लेट गया था वह, उस के माथे के ऊपर

मँडराते चमगादड़, उसे घेर कर काली रात
सो गई थी, उस की सच्ची माता-सी।

२४ अक्टूबर १९४० ई०

बाँध पर गोमती

बाँधने रोका उसे बाँहें बढ़ा कर,
शान्त, चलती गोमती को याद आए
गये बचपन के दिनों के शैल वे,
रोकते थे जो उसे बाँहें बढ़ा कर,
और जिन को चूम वह थी दौड़ जाती,
दूर निर्जन घाटियों में हँस मधुर!
याद आए गोमती को शैल वे,
और सहसा हँस पड़ी वह, बाहुओं में
बाँध की पड़, भूल अपने आप को,
बन गई फिर कुछ क्षणों को वह वही
केश खोले, पर्वतों के बीच हँसती,
और भीषण नृत्य करती, मदिर नयना गोमती!
वे गरजती उछलती चंचल तरंगें,
जो शिलाओं पर कठिन आघात कर,
मोतियों में बिखर जातीं, काँपतीं,
दौड़तीं जो हर्ष से वे ही तरंगे

लौटने करने लगीं कलरव मधुर, उस वक्त में!
किन्तु कुछ ही देर में उस के चरण भी
थक गये, उस का क्षणिक उत्साह भी
श्रान्त हो कर गिरा उस के वक्ष पर,
मंद चलती और रह-रह हाँपती
सजल नयना गोमती बन, आह भर कर
खो गई चुपचाप वह धूमिल क्षितिज में!

एक प्रिय कवि को

एक समय था तुम बसंत की इस दुर्वा पर
बैठ देखते थे हिमगिर का हास मनोहर!
तुम चलते थे और तुम्हारे पीछे-पीछे
चलती थी नीरव छाया फूलों के ऊपर,
नव-बसंत की शोभा से अपनी अंजलि भर,
एक समय था तुम इन प्रिय तरुओं के नीचे
गाते थे पिक-से विह्वल स्वर मधु रजनी भर!
चले गए वे दिवस, आज तुम एक चित्र-से
मौन खड़े हो शोभा की चित्रित भीतों पर!
मौन तुम्हारा कंठ हो गया मूक प्रिय अधर!
बंदी हुआ तुम्हारा रूप स्वरों के भीतर!
चले गये तुम दूर आज नश्वर फूलों से
चिर-चंचल नदियों से, अस्थिर चित मेघों से,

अमर लोक में जहाँ सदा फूलों के ऊपर
झुके हुए रहते हैं नीरव प्रेमी मधुकर,
जहाँ स्वच्छ हिम के निर्जन-पर्वत-शृंगों पर,
छाई रहती संध्या सदा एक रस सुन्दर !

हे मृत्यु देव !

मेरे सुख पर क्यों हे तुमने अश्रु गिराए ?
मेरी आँखों को क्यों ऐसे दृश्य दिखाए ?
सूखी नदियाँ, सूने भवन, उजड़ते कानन,
झरते फूल, दुखों से पीले पड़ते यौवन !
आज मधु निशा थी, मेरे अधरों पर
फिरते थे पृथ्वी के सुख के स्वर आ-आ कर
मेरे नभ में घूम रहा था पूर्ण सुधा-कर,
मेरी कुञ्जों में मधु फिरता था गा-गा कर,
देख रहा था मैं सपने अपनी प्रेयसि के,
देख रहा था दिन लज्जा के और हँसी के ;
इसी समय तुम हाय कहाँ से आहें लाए !
मेरे सुख पर क्यों हे तुम ने अश्रु गिराए ?
मेरी सुख की गंगा के सूने तट पर आ
रो जाती है एक वधू, जिस की सिसकी का—
स्वर सुन कर, मेरी लहरें सहसा रुक जातीं,
और न फिर अपने पथ पर हँस कर चल पातीं ;
स्वप्न देखता रहता मैं जब हरित-द्रुमों के

गुञ्जन के, भ्रमरों के सौरभ के, कुसुमों के,
उसी समय मेरे आगे सूनी साँसें भर
आ जाती है एक लता मारुत से झर-झर,
झरते रहते जिस के पत्र, और आखों पर
भरी हुई रहती मुरझाई कलियाँ सुन्दर !
उठ प्रभात में उज्ज्वल आशाओं से भर कर,
चलने लगता हूँ जब मैं दुर्गम गिरि-पथ पर,
इसी समय तुम हाय कहाँ से टूटे-फूटे
एक पथिक को ले आते हो, तन से छूटे—
जिस के धैर्य और उत्साह, करुण साँस भर
जो मरता रहता दुर्गम गिरि-पथ से गिर कर !
तुम्हें क्या कहूँ मेरी मुस्कानों के उर को
चीर अश्रु पीने वाले, मेरे सुख-स्वर को
करुण बनाने वाले देव ! कहें क्या तुम को !
फूलों में तुम हाय न रहने दोगे मुझ को,
प्यार न करने दोगे कभी किसी को भू पर !
तिक्त अमृत कर दोगे मेरा, विष मिश्रित कर !
मैं चलता हूँ चलो जहाँ उजड़े नगरों में,
सूखी नदियों के तट पर सुनसान स्वरों में
अन्धकार में तुम रहते हो आहें भरते,
अपनी साँसों से पृथ्वी को पीड़ित करते,

जहाँ फूल खिलते न कभी भी कहीं वनों में,
जहाँ सुरभि बहती न कभी भी वन-पवनों में,
जहाँ कहीं भी नभ में आता नहीं सुधाकर,
जहाँ न कोई दुख को हलका करता गा कर,
वहाँ तुम्हारे साथ रात-दिन आहें भरता,
मेरा हृदय, निठुर तुम को तब मेरे दुख से
होगी ईर्ष्या नहीं जरा से मेरे सुख से
तुम्हें हुई थी जैसी ईर्ष्या जल-जल कर जो
भस्म कर गई थी मेरे सुखमय जीवन को !

खंडहर

साँसें भरता है पृथ्वी पर खड़ा खंडहर,
दूर पुरों में दीपों की मालाएँ जलतीं,
वहाँ सुरा नयनों में चंचल हो कर हिलती,
वहाँ गीत-नृत्यों से मुखर अधर व पद सुन्दर,
साँसें भरता है पृथ्वी पर खड़ा खंडहर,
शहनाइयाँ वहाँ वधुओं को गृह में लातीं,
पुर-नारियाँ मधुर मंगल गीतों को गातीं,
वहाँ वधू मिलती वर से आँखें नीची कर,
साँसें भरता है पृथ्वी पर खड़ा खंडहर !
माताएँ शिशुओं को अपनी गोदी में भर !
खड़ी देखती रहतीं पथ की शोभा सुन्दर,
जाता उत्सव जहाँ मधुर मुरलियाँ बजा कर;

साँसें भरता है पृथ्वी पर खड़ा खंडहर,
झुकी हुई हैं वहाँ कुसुम छवि से वल्लरियाँ,
छायाओं में पड़ी अलस लोचना सुन्दरियाँ,
मधुप जा रहे गुन-गुन कर फूलों-फूलों पर,
साँसें भरता है पृथ्वी पर खड़ा खंडहर !
उस ने भी चाहा था जीवन स्वर्ग बनाना,
मणि दीपों से अपने उज्ज्वल कक्ष सजाना,
गाना, फूलों से अपनी अंजलियाँ भर-भर,
कौन जानता था वह होगा एक खंडहर !
कहाँ गई वे माताएँ ! वे बहनें प्यारी !
कहाँ गये वे शिशु, जिन की कोमल किलकारी,
कर देती थी कोने-कोने मुखर मनोहर !
स्तब्ध खड़ा वह आज धरा पर बना खंडहर,
कहाँ गये वे युवक ! मधुर स्वप्नों से क्षण भर
जो उतरे थे उस में दीप प्रभाएँ ले कर !
चले गये जो उस का जीवन शाप बना कर !
रोता धारे, अंधकार से भरा खंडहर !
कहाँ गये वे पुष्प सुरभि जीवन की ले कर !
कहाँ गये वे विहग गीत-ध्वनियाँ ले सुन्दर !
घिरा झाड़ियों से सुनता उलूक के घन स्वर,
सोच रहा है विस्मित हो कर आज खंडहर !
उड़ी आह ! कितनी जल्दी आशा जीवन की !

दो ही पल में हँसी व्यथा बन गई नयन की !
इन्द्रधनुष से गिरा वज्र दारुण गर्जन कर !
वह उज्ज्वल प्रासाद टूट हुआ अब खंडहर !
अब न प्यार करती हैं उस को रवि की किरणें,
अब न हिलाती उस की अलकें मधु की पवनें,
अब न वसन्त हृदय छूता उस का गुन गुन कर,
केवल साँसें भरता है वह दीन खडहर !
अपने स्वप्नों की समाधि बन आज खड़ा है,
उस के सर पर कई युगों का शाप पड़ा है,
डरता स्वयं आज अपनी ही छाँह देख कर
साँसें भरता है पृथ्वी पर खड़ा खंडहर !

प्रिय जीवन यदि

प्रिय जीवन यदि शेष रह गए तुम इस तन में,
इस जर्जर तन में
मैं ले जाऊँगा तुम को जग के वन-वन में,
प्रिय जग के वन-वन में,
सरिताओं के तट पर हम मृदु गान सुनेंगे,
गाएँगे आँखे भर,
हम वसन्त में खिले अधखिले फूल चुनेंगे,
बाँहों में बाहु धर,
याद करेंगे कभी आह भर उस जीवन की,
सपना बन जो बीता,

जिस के बिना न सुख देती शोभा त्रिभुवन की,
लगता जग भर रीता,
विपिनों में वसन्त आएगा जब हिल-हिल मर्मर,
ओठों में कुछ गाता
जब दूर्वा से औ फूलों से जाएगा भूतल भर,
पृथ्वी हो मधु-स्नाता—
बोल उठेगी जब सौ-सौ सुकुमार स्वरों में,
जल थल और गगन में
तब न रहेंगे हमी व्यथा भर कर अधरों में
आँसू भरे नयन में !
सीखेंगे हम होना सुखी, विश्व के सुख में
सीखेंगे मुस्काना,
सीखेंगे पृथ्वी को हँसती देख हृदय को
दारुण व्यथा भुलाना !
सीखेंगे अपना सब कुछ खो नभ के नीचे
सूनेपन में जीना,
सीखेंगे प्रसन्न रह कर अपने हाथों के
कटुतम विष को पीना !
किन्तु किसी दिन भूल हृदय की इस शिक्षा को
बरस पड़े यदि आँखें,
देख विश्व में हरित सभी को शून्य देख कर
केवल अपनी शाखें !

आशा है आँखों में आँसू भर यह धरती
हम को क्षमा करेगी
आशा है मरने के समय हमें भी अपने
उर पर धर सुख देगी !

शून्य कमरा

यह अकेला शून्य कमरा, यह अकेली चारपाई,
गरीबी, बीमारियों के हाथ, यह ऐसी तबाही ?
किसी से मिलना न जुलना, ये घृणित बातें सभी,
भाग्य ने दीं तुम्हें या तुम ने हृदय थीं स्वयं चाही ?

चुप रहे

यदि एक रोज का दुख होता, तो मैं सहता, सुख से सहता !
तुम मुझे दण्ड देते जितना सहता, न किसी से कुछ कहता !
पर यह वर्षों का शोक, और तुम मुझ को इतना सता रहे,
तिस पर भी करते चाह कि चुप रहे न किसी से कुछ कहे !

दया मृत्यु में

दया मृत्यु में है पर मेरे जीवन तुम में दया नहीं,
जिला रहे जैसे तुम मुझ को, जाता वैसे जिया कहीं !
मुझे जोत रथ पर अंधे हो तुम चाबुक कसते जाते,
घूम रहा सिर, मेरी टाँगें देखो कितनी काँप रहीं !

मैं जीता हूँ

प्रिय जीवन, बिना तुम्हारे भी मैं जीता हूँ, मुसकाता हूँ,
दिन भर पृथ्वी के मंचों पर निज हाथ उठा कर गाता हूँ,

पर जब होता एकान्त और मुझ को न देखता है कोई,
तब मुझे शोक होता कितना जब पास न तुम को पाता हूँ !

उद्बोध

सुबह की न सोच हृदय, बीच में रात है.
जंगली सड़क और चोरों का साथ है;
हो सकता यही शाम आखिरी शाम हो.
हो सकता-देखना तुझे न फिर प्रात है !

न होना था

न होना था इसी से हो न पाया,
उसे जाना था इसी से रह न पाया,
किए सब ने कह हृदय के भार हलके,
उसे कहना था इसी से कह न पाया,
चोट वह सब पर पड़ी थी एक-सी,
उसे मरना था इसी से सह न पाया!

पुनः सूर्य्य की

पुनः सूर्य्य की किरण गिरी जब मेरे मुख पर,
आँसू से आई मेरी दुखिया आँखें भर,
लाये तुम प्रकाश जीवन का फिर त्रिभुवन में,
मेरे लिए कौन-सा सुख लाए तुम दिन कर !

हिम शैल

ये शैल हैं या देवता ?
इनके हृदय पर चमकता यह श्वेत हिम या अमरता ?

ये मेघ हैं या शुभ्र इन के भाव, नभमें उड़ रहे ?
हैं नदी नद ये कि इनके हृदय-तल की सजल ममता ?

काफल-पाक्कू

पुनः वही स्वर—आज कई वर्षों में दर्शन,
पुनः 'वही स्वर—बदला कितना मेरा जीवन !
पहले तुम को देख चरण चंचल होते थे,
आज उमड़ता है मेरी आखों में रोदन !
'पके, बनों में काफल,' तुम अपनी वाणी से
भेज रहे हो मुझ को पहले की तरह निमंत्रण,
शिथिल हो गए चरण, वधु ! किस तरह आज मैं
करूँ तुम्हारे इस प्रिय आमन्त्रण का रक्षण ?
कैसे जाऊँ दौड़ वनों में ? चढ़ पेड़ों पर,
कैसे करूँ हवा में हाथ उठा कर नर्तन ?
कैसे तुम्हें चिढ़ाऊँ कर अनुकरण तुम्हारा ?
किस प्रकार लाऊँ लौटा कर अपना बचपन ?
खिची दीर्घ रेखाएँ अब मेरे मस्तक पर,
भुला दिया मेरे प्राणों ने अपना कूजन !
गाओ बंधु, तुम्हीं उड़-उड़ कर काफल खाओ !
बदल गया पहले से बुरी तरह यह जीवन !
पहले तुम को देख चरण चंचल होते थे,
आज उमड़ता मेरी आँखों में कटु रोदन !

भीषण निश्चय

बैठ मृत्यु के द्वारों पर भीषण निश्चय से
मैं गाता हूँ यम का यश, वैवस्वत यम का,
क्षीण कण्ठ है मेरा, क्षण-क्षण पड़ते जाते
मेरे हाथशिथिल, मेरा उर कुटिल मृत्यु ने
छान कर दिया चलनी-सा, जीवन की धारा
कभी बह गई, इस से यदि पूरा न गा सकूँ
यदि न तुम्हारा पौरुष शब्दों में उठा सकूँ,
तो न कुपित होना हे गहन मृत्यु के स्वामी !
मुझे क्षमा करना हे यम, हे अन्तर्यामी

यम

सुनता हूँ गूँज रही महिष-कण्ठ-किंकिणी, मेरे उर देश में,
हे यम ! मूर्छित हो पड़ी श्याम रजनी, इस कराल वेश में,
आँखों में धूम्र-केतु, पाश कठिन करों में, महिष पर चढ़े हुये,
हृदय में कठोर शिला, मुख में अँगारे, अलकें फुफकार रहे !
काँप रही चरणों में भिन्न-भिन्न धरणी, सिहर रही काया,
प्राणों में भीम-नाद भैरव का आया !
छोड़ तुझे छिपी आज, पृथ्वी, तम-गर्भ में, उठ रे नादान हृदय !
पोंछ क्षीण लोचन जल, आज तू अकेला, तज रे जीवन-भय !
छोड़ कम्प दीन हरिण, सिंह के नखों में, डाल शीश अपना,
भस्म हो नगण्य लोक, प्रलयङ्कर रुद्र की पूरी कर वासना !

मृत्यु देव आये हैं अतिथि बन तुम्हारे, करो शंख घोषणा,
महा अतिथि चरणों को जीवन दे पूजना !

एक फूल चुनने को, मुरझा, मिट्टी का, स्वयं आप आए !
एक पत्र करने को छेदन संसार से, वज्र-शिखा लाए !
करने को उदर-लीन, एक क्षुद्र निर्झर, महार्णव स्वयं चले,
करता जो सदा रहा आप की प्रतीक्षा उसे जीतने निकले,
ले कर घन घोर चंड प्रलय-जलद-जाल-सी अंतहीन वाहिनी !
गाता मैं आर्द्रकंठ स्वागत की रागिनी !

जीवन के तीव्र-ताप से विदग्ध प्राण की, शरण चरण आप के !
आशा से छले हुए रोते अभिमान की शान्ति चरण आप के !
पा कर के परस, नाथ ! आप के प्रहार का, जीवन की क्षुद्रता
जाती बन, पारस से हुए हुए लौह की, हिरण्यमयी रुद्रता !
जाता उठ ऊपर वह काम; क्रोध-मोह से, जन्म-मरण-जाल से,
नाथ ! जिस के खींचते प्राण विश्व-डाल से !

ऊपर से रुद्र-रूप, भीषण-संहार मूर्ति, अंतर जननी का !
हाथों में तीक्ष्ण अशनि, अंतर में करुणा, उमड़ती असीमा,
अन्तर है देख लिया, जिस ने प्रभु आप का, उस को भय फिर कहाँ
मुझ को ले चलो मृत्यु-चिर-प्रकाश लोक में, अमरों के साथ जहाँ,
करते हैं सोम-पान पूर्व-पुरुष मेरे, देवता बने हुए,
जन्म और मरण के चिन्तन से मुक्त हुए !

ज्योति में

और नीचे डुबाओ !
मुझ को मरण के चरण-तल तक डुबाओ
नीचे डुबाओ !
अँधेरा इतना हृदय में हो कि रह जाए न आशा,
सदा को मिट जाँय सुख दुख, हर्ष और निराश भाषा,
दग्ध उर के कलुष सब हो जाँय जलते आँसुओं से,
जब प्रभो, केवल तुम्हारी लालसा उर में रहे,
शुद्ध हो जावे हृदय जब शुभ्र हिम-सा,
तब अतल उस शोक-सागर से मुझे ऊपर उठाओ !
ज्योति से पूरित कमल-सा, ज्योति में ऊपर उठाओ !
और ऊपर उठाओ, ऊपर उठाओ !

हे नाथ

हृदय के सब पंथ मेरे, करो, नाथ ! प्रशस्त-सुन्दर,
दीनता, संकीर्णता से करो मुक्त उदास ये स्वर !
शक्ति दो विश्वास की, दुख में छटा मृदु हास की,
करो अपनी अग्नि से मेरा हृदय निश्छल मनोहर !

३० नवम्बर १६४० ई०

मेरे भगवान

जिस में हो कल्याण, उसी पथ पर दिनमान,
मुझे ले चलो इंगित से मेरे भगवान !
जहाँ कठिन इन कष्टों से पाऊँ मैं त्राण,

वहीं ले चलो मुझ को, हे मेरे भगवान !

हे माँ

अब जैसे आनंद न देगा कुछ भी,
मेरे जीवन की ज्योति गई कुछ बुझ-सी,
ओ पृथ्वी इतने लोक चमकते नभ-में
पाऊँगा मैं न कभी माता पर तुझ-सी !

रे चला गया

रे चला गया वह जीवन तो!
आशा बसती थी आँखों में, गुंजन बसता था पाँखों में,
पृथ्वी की शोभा बसती थी मेरी हिलती शाखों में,
तब आया था वह दो दिन को, अब दूर गया वह जीवन तो!

वह जीवन

कष्टों से यद्यपि जर्जर था, फिर भी वह जीवन सुन्दर था ! निशि-दिन मेघों के भीषण स्वर, जिस नभ से आते थे भू-पर, उस नभ ही में चुपचाप कभी, शशि भी हँस जाता क्षण भर था, वह जीवन प्रिय था, सुन्दर था ! तीखे काँटों से विंध-विंध कर रो उठता था जब पीड़ित उर, तब एक कुसुम ही दुख सारा हर लेता था थोड़ा हँस कर, सब कुछ खोकर उदास हो कर जब हृदय बैठ कर द्वारों पर, रोता था, उसे हँसा जाता था तब स्नेह किसी का आ कर, रोगों-शोकों से घिर निशि-दिन

रोता ही रहता था जीवन यद्यपि वह, फिर भी उस में ही,
मिलता यौवन भी पल भर था, वह जीवन प्रिय था सुन्दर था !

शु० १३ नवम्बर १९४२ ई०

और अब ?

वह पुराना साथ छूटा, काल ने
मुझको अहा ! इस तरह लूटा !
अब जुटे कैसे अनोखे साथ वाले !
कर्म काले, और जिनके हृदय काले !
मांस लोलुप गिद्ध से मेरे हृदय पर
जो झपटते कर प्रसारित स्वार्थ के पर,
भोंकते मेरे सुयश पर नाम को,
गालियों से काटते बिगड़ैल हो !
वह पुराना साथ हाय ! कहाँ गया !
जब पुराने काव्य ग्रन्थों में नया,
सौख्य थे हम ढूंढ़ते, जब प्रेम से
बीतते थे दिन कुशल औ-क्षेम से,
पास थे तुम शंभु ! विक्रम पास था,
हृदय मेरा तब कभी न उदास था,
और क्या हूँ अब न कुछ पूछो मुझे !
आ गया मैं तंग इस [1]हरदत्त से !

---

१ — अगस्त्यमुनी स्कूल के सेक्रटरी! तब १९४६ में चन्द्रकुँवर
इस स्कूल में काम कर रहे थे।

तब अब

जब मरण था पास इतने, प्राण रहते पास जितने,
याद है ? तुम को हृदय, मैंने रुदन कितना किया था ?
याद है? वह मुख जिसे मैं लोचनों में भर जिया था !
गये वे दिन दूर इतने, मेघ रहते दूर जितने !
मरण आज नहीं कहीं, भरी फूलों से मही,
बोलते खग घाटियों में; पवन रह-रह बह रही,
मुझे घर की ओर फिरने के लिए वह कह रही,
जहाँ अब कोई नहीं, भरी फूलों से मही !

भूल गया था

कुछ दिन पहिले काया को लख पीली पड़ती,
मृत्यु देव के चिन्तन में दिन-दिन कुम्हलाती,
खाना-पीना छोड़ विरहिणी-सी तज हँसना,
रोती शय्या-शायिनी अतिशय दीना-हीना, काँप उठा था मैं,
लख शिशु को कुम्हलाते जननी के प्राण व्यथा से,
कातर हो जाते, मैं रोया असहाय विश्व में जैसे
मेरे ऊपर कोई शक्ति न थी ! उर की जिस के,
दोनों की प्रार्थना कँपा देती है छल-छल !
जिस की करुणा दुखियों का है एक मात्र बल,
और विश्व में मूर्तिमान उस के प्रतिनिधि को,
मेरे मित्र रूप में आये करुणानिधि को,

भूल गया था [1]तुम को भी मैं अपने दुख में !

सुयश देना

थक तुम्हारे चरण जावें यदि, मुझे तो भुजाओं में
भर उठा कर बहन करने का सुयश देना हे सदय हो!
शिशिर आवे, जब गिरें सब पत्र जीवन के,
धूल में मिल जाँय जब अभिलाष तन-मन के,
तब मरण की राह पर चलते समय हे,
भूल तुम जाना न मुझ को, हे सदय हो !

दो दिन

एक दिन था जब तुम्हारी चाह थी,
खोजती जब तुम्हें मेरी आह थी,
एक दिन है आज भी, मुँह फेर कर,
जब कि मैं हूँ खड़ा तुमको हेर कर !

वह

हँसता है कभी वह, कभी रोता है शोक से,
दूर वह चला गया, अब इस नर लोक से,
पूछेगा कौन उसे, रहता अब वह कहाँ ?
दूर···दूर ··कल्पना नहीं पहुँचती जहाँ !

१—शं० प्र० बहुगुणा

भूल

मैंने सोचा था जब मुझ पर शोक पड़ेगा,
मेरे साथ-साथ रोएगी प्यारी दुनिया,
रोता हूँ मैं आज अकेला, देख रहा हूँ,
हँसती है मुझे दिखा उँगली सारी दुनिया !

भ्रम

मैंने कहा, बहुत से मुझे प्यार करते हैं,
दुख ने उन सब को चलनी में छाना;
और अन्त में मैंने देखा, इस पृथ्वी में,
मुझे प्यार करता था मैं ही, और न कोई !

हेम्नः संलक्ष्यते ह्यग्नौ

अपना मैं जिसे समझता था, उस से तो दुश्मन था अपना,
सच्चा मैं जिसे समझता था, उस से तो सच्चा था सपना,
विश्वास किया मैं ने जिस पर, जिस को समझा सदैव अपना,
जब वक्त पड़ा वह अपना ही तब दुश्मन से भी बुरा बना !

छूट जिस दिन

छूट जिस दिन तू अकेला जायगा, जब न कोई पास तेरे आयगा,
सोच मत कर, तू उसी दिन हृदय में,
देख अशरण-शरण प्रभु को पायगा !

दुश्मन की खुशी

देख अपने सुहृद को मैं ने कहा—"मित्र,
कुछ भी आशा जीवन की नहीं!"
किन्तु दुश्मन की खुशी को देख कर,
आशा भी मुझ को अचानक मिल गई!

मिलन

आँखों में आँसू भर मेरे आगे बैठी वह मौन रही,
मैं भी चुप रहा, न मैं ने ही मुँह खोला, कोई बात कही!
आखिर आँखों को पोंछ शनैः आगे से उठ वह चली गई,
तब मैं ने कहा-किया उस ने जो कुछ भी वह था बहुत सही!

जैसी करणी

भाग्य की ओर कर वक्र-दृष्टि मैं करता घृणित कुकर्म रहा,
आखिर जब दंड मिला मुझ को मैं ने रो कर भाग्य से कहा,
"मैं तुम्हें देवता समझे था पर तुम थे राक्षस क्रूर मना!"
वह बोला—"मुझे तुम्हारे ही कर्मों ने राक्षस दिया बना!"

असमर्थता

जब होगी मधु-ऋतु फिर होगी, मेरे कहने से क्या होगा?
होगा पावस मिति पर, आँसू तेरे बहने से क्या होगा?
काल-चक्र जो घूम रहा है, मेरे रोके वह न रुकेगा,
बहती सरिता, मेरे तट पर रुक कर रहने से क्या होगा?

वीर-बानगी

संघर्षों से घबरा जाना, यह तो है मर्दानगी नहीं,
अपने को सदा बचा रखना, यह बीरों की बानगी नहीं,
वे लड़ते हैं अपने तन को, खतरों के बीच डालते हैं,
इज्जत के आगे कुछ चिन्ता, उन को अपनी जान की नहीं.
मर्द बन हृदय, मर्द बन हृदय, कोने में रोना छोड़ आज,
बाहर आ, राहें जानी हैं, उत्तर-दक्खिन को सभी कहीं,
दुर्बलता में क्या मज़ा है, है मजा सदा ताक़त में ही,
ताकतवर बन तू, तुझे फिकर क्या है अपने मान की नहीं ?
संघर्षों से घबरा जाना, यह बीरों की बानगी नहीं!

खेल-खतम

ऐसा भी होता है, तो हो मैं क्या करूँ !
वैसा भी होता है, तो हो मैं क्या करूँ !
ताकत का खेल सभी, ताकत मुझ में है नहीं,
जैसा भी होता है, हो ले मै क्या करूँ !

ईश्वर-इच्छा

मैं ने सोचा अब संकट की घड़ियाँ सदैव को बीत चलीं !
पर देखा ईश्वर की इच्छा इस से विपरीत बहुत निकली !
डूबे रवि, जीवन की शोभा, सब अस्ताचल की ओर ढली,
मैं रोया, ईश्वर की इच्छा पर उस के भी विरुद्ध निकली !
जो बात बुरी मैं समझे था, वह थी वास्तव में बहुत भली,
मेरी इच्छा से ईश्वर की इच्छा उल्टी सदैव निकली !

प्रतिकूल दैव

सब की जो रक्षा करता है, वह ही मेरे प्रतिकूल हुआ !
सब को जो भिक्षा देता है, उस ने मेरा धन छीन लिया !

दिल भर दी

दिल भर दी, आँखें भर कर दी,
उस ने व्यथा हृदय भर कर दी !
मैंने उस से अपर सुखों का वर माँगा था,
उस ने अमर व्यथा मेरी झोली में धर दी !
कैसे हाय ! पिऊँ मैं
मेरे यौवन की पूर्णिमा विकास प्रफुल्लित
उसने घोर अमा-तम में परिवर्तित कर दी !
उस ने इस प्याली में दुनिया भर के
शोकों की कड़ुवाहट भर दी !

वह

वह कभी कष्ट दे कर भी प्यार किया करता है,
वह कभी स्नेह से भी आंखें भरता है;
वह कभी मुख-चूम धरता है प्राणों पर,
वह कभी कुचलते हुए चरण धरता है;
मिट्टी में था जो बीज उसे झर झर कर,
उस ने नव अंकुर बना निकाला ऊपर,
पाला पोसा, तरु श्रेष्ट बनाया उस को,
फिर चूर कर दिया बनकर वज्र कठिन तर !

उस के हाथों में वज्र, अश्रु दुर्बल नयनों में !
कर्मों में निर्ममता, करुणा वचनों में,
वह पिता और जीवन का शत्रु भयंकर,
उस की छाया में शक्ति, नाश चरणों में,

सुख-दुख

सपनों में धन-सा मिलता है सुख जग में जीवन को,
बिजली-सा आलोकित करता क्षण भर हँसी रुदन को,
पहिन बसन काँटों के आता दुख बाँहें फैलाए,
निर्मम आलिंगन से करता क्षत विक्षत यौवन को,

निस्पृह

फूलों को जब चाह मुझे थी तब काँटे भी नहीं मिले,
जब शशि की थी चाह मुझे, तब जुगनू भी न कहीं निकले;
आशा और निराशा सब कुछ खो मैं जग में घूम रहा,
अब पग-पग पर मिलते मुझ को क्यों ये इतने फूल खिले,

कभी न

कभी मिला जो सुख न, उसी के स्वप्न देख कर मैं मरता,
कभी सुने न जो स्वर उन्हीं के मधु से मैं जीवन को भरता,
कभी न पाए जो [illegible] याद सदा उन की आती,
रूप जिसे देखा न कभी, वह पलकों को गीली करता;

पीड़ा अपनी

नत तन, शून्य दृष्टि, सजनी! प्रणय मात्र की मधुर कुमुदनी!
चिर संचित पीड़ा अपनी !

मृत्यु

रह-रह काँप रहा मेरा उर, देख तुम्हारे कर में,
काल कूट-सा खौलता ज़हर हास प्रकप अधर में!

बिजली थी

बिजली थी कौंध गई, लहरी थी चली गई!
बादल था वह न गया, पत्थर था वह न बहा!

बिना तुम्हारे

बिना ज्योति के दीपक जैसे,
बिना प्राणके बीज जिस तरह,वैसा ही मै बिना तुम्हारे!

उजड़े स्वप्न

किसी उजड़े देश के स्वप्न विकृत वेश ये,
प्रेत ये बीते सुखों के, स्नेह के कंकाल ये, शून्य में बिखरें हुए!

लिख लो

जब तक दीपक में है प्रकाश लिखलो,
अपने मन की लिख लो!

मेरा दुख

बोल न सकता मेरा दुख, शव-सा निश्चल हो,
वह चुपचाप देखता रहता है जीवन को!

व्यर्थ

व्यर्थ प्रतीक्षा में बीते इतने दिन मेरे,
आशा रही व्यर्थ ही इन प्राणों को घेरे!

मुसकान

वह आँखों से रोकती रही, मुसकान अधर से निकल गई।

दावाग्नि

कौन शान्त है? कौन सुखी है ?
इस दावाग्नि में पड़ा कौन तृण कह सकता मैं हरा बना हूँ ?

हरे पेड़

सूखे तरु को क्यों सखी, होगा सुख उत्साह,
सभी चाहते विश्व में, हरे पेड़ की छाँह!

शून्य भवन

शून्य पड़े वे भवन, कभी जिन के द्वारों पर,
खड़ी प्रतीक्षा करती थीं आँखें अति सुन्दर;

इन्द्र

इन्द्र है वह, रूप से जिस के गगन तल भर गया,
इन्द्र है वह, हास जिस का देख कर बिजली गिरी;

पारावार

अब अकेले हो हृदय तुम अकेले ही, साथ कोई भी नहीं,
नील पारावार, टूटी नाव है, कूल हाय, नहीं कहीं!

मुक्ति चिन्ता

कौन करेगा हाय फिर, भारत को आज़ाद ?
रंकी से यदि हो गये, चन्द्र कुँवर बर्बाद ?

पैदल यात्रा

पक्की नावों पर चढ़े, डूबे सब मँझधार,

जो पैदल जल में चले, पहुँचे वेही पार;

इस भँवर में

गिर चुका जो इस भँवर में घूमता वह सदा रहता,
शांति उस को मिल कभी सकती नहीं,
सीख जो दिल चुका रोना, वह सदा ही रुदन करता,
झड़ी उस की थम कभी सकती नहीं,
उड़ चुका जो पत्र तरु से वह सदा ही भ्रमण करता,
स्थिति न उस की पुनः हो सकती कहीं!
सीख जो गिरि चुका गिरना, धसकता वह सदा रहता,
दूब उस पर फिर न जम सकती कहीं!

मैं बनूँ

मैं बनूँ वह वृक्ष जिस की स्निग्ध छाया में कभी,
थे मिले दो तरुण प्रणयी फिर न मिलने को कभी!
मैं बनूँ वह शैल जिस के दीन मस्तक पर कभी,
थे रुके दो मेघ क्षण भर फिर न रुकने को कभी,
मैं बनूँ वह भग्न गृह जिस के निविड़ तम में कभी,
थे जले दो दीप क्षण भर फिर न जलने को कभी!
मंगलों से जो सजा था मधुर गीतों से भरा,
मैं बनूँ वह हर्ष जाता जो न फिरने को कभी!

अंध तम में

एक दिन मैं इस शिखर से जहाँ इन्दुमुखी
उतर कर बालिका-सी खेलती है,

स्वर्ण सिकता मुष्टि में भर,
मृत्यु के चिर अंध तम में जाऊँगा निःस्वन उतर !
फूल फूटेंगे धरा पर, मेघ डोलेंगे गगन में,
प्रेम यौवन के सुमन में,
गूँजता होगा भुवन में, किन्तु मुझ को,
छू न पावेंगे धरा की गंध के स्वर,
मृत्यु के चिर अंधतम में मैं पड़ूँगा जब उतर,
एक दिन मै इस शिखर से !

२३ अप्रैल १९३९ ई० हरिद्वार

कुछ नहीं

दीपकी लौ इस हृदय में नहीं जलती,
पवन मेरा बुझाने को कुछ नहीं !
इस हृदय के बीच आशा नहीं पलती,
वज्र, मेरा बचाने को कुछ नहीं !
पत्र मेरे कभी के ही झर चुके हैं !
पीत भय पतझड़ कहाँ से दूं तुम्हें !
रो चुका जी भर हृदय सब के लिये,
अब हृदय मेरा रुलाने को कुछ नहीं ?

जनवरी १९४१

न वहाँ भी

हाय न रोओ ! ले ले मेरा नाम न रोओ,
मर कर तो मुझ को पल भर तुम अब सुख से रहने दो !

मृत्यु-नगर में सोने लगता जब मैं भूल जगत को,
रो उठते तुम, मिलता सुख है, हा! न वहाँ भी मुझ को!

स्वयं कूद पड़ा

सुख से बीता जीवन, दुख जो आया वह अपनी करणी से,
मुझ को अमूल्य उपहार मिले निशि-दिन इस सुन्दर धरणी से,
उस ने दी पक्की देह नाव, विश्वास भक्ति की पतवारें,
उस का क्या दोष कूद जल में यदि पड़ा स्वयं मैं तरणी से!

क्षमा चाहता

मैं क्षमा चहता हूँ ईश्वर, मैं क्षमा चाहता हूँ आज क्षमा,
मैं ने जो कुछ भी पाप किए, मुझ को दो उन के लिए क्षमा,
इस पुण्य पावनी पृथ्वी पर, अपने अक्षम्य कुकर्मों से,
जो स्थल मैंने भ्रष्ट किए, मुझ को दो उन के लिए क्षमा!
मैं क्षमा चाहता हूँ स्वामी, मैं क्षमा चाहता आज क्षमा!

प्रलय वात

रुग्ण गात, झरे पात, बही प्रलय प्रबल वात,
पृथ्वी में गया फैल तीक्ष्ण शिशिर और नाश!
तन में जिस के न प्राण
बाँह वह बार-बार उठा माँग रहा त्राण! पर जो
सुदृढ़ शरीर, उस को पतझड़ न कहीं,
वह नित दुख-हीन धीर सुनता चुपचाप दूर,
मधु की वह चरण-चाप, हँसता फिर आप आप,
यद्यपि सब झरे पात, बही प्रलय प्रबल वात!

पतझड़ में सावन

घिर आया पतझड़ में सावन, बिजली चमकाता काला घन !
आई गाने वाली रात, वह झरने वाली बरसात,
आया फिर मारुत के साथ, मेघों का मादक गर्जन !
छिपा आह ! जलते नभ दीप, आई वर्षा हृदय समीप,
पावे सावन का जीवन, फिर आया पतझड़ में सावन !
किन्तु पवन लगते ही हाय, झरता जिस का उर असहाय,
कैसे वह तरु मरण मलीन, समझे फिर आया सावन ?
बिधुर हृदय में घिरे स्मरण-घन, घिर आया पतझड़ में सावन !

कितने पत्र नवीन

कितने पत्र नवीन आ गये रे उन से मिलते !
चले गये वे पत्र पुरातन तरुवर के जीवन से,
कितने पत्र नवीन आ गये रे उन से मिलते !
वही धूप धरती पर फैली, वही घटा नभ में छाई,
किन्तु इस हरी तरु-छाया में वह न पड़ी दिखलाई !
तुम वसन्त, बालिका-लताएँ भी भरकर फूलों से चले गये,
पर वह सुकुमारी कुसुम न चुनने आई !
चली गई मेरी मधु-ऋतु निज पत्र-कुसुम ले कर के,
कितने पत्र नवीन आगये रे उन से मिलते !

रसमय सावन

आरे संतप्त हृदय शीतल आ गया लौट रसमय सावन!
गीतों से झूल रहा वन-तल, नृत्यों से नाच रहा उपवन,

मंगल गीतों को गाती यह बहती है अविरल जल धारा,
अप्सरियों ने भीगी अलकें, धरणी ने हरितांबर धारा;
मेरे प्राणों से होता था आशा का अभिनव मृदु गुंजन,
ईश्वर ने सहसा नष्ट किया, सब कुछ निज वज्रों के द्वारा !

पानी के गीत

पानी को देख कर, आते क्यों उमड़ गीत, प्राणों से अधर पर?
पानी को देख कर जाते क्यों मधुर गान आँखों के बीच भर?
युवती जो काँख में सूनी गागर लिए,
आती है दूर निज उर को केन्द्रित किए,
पानी के पास आ, गगरी जल में डुबा, जल का कल शब्द सुन,
तन-मन की सुध भुला, उठती क्यों गुनगुना ?
कृषक कड़ी धूप में जो कि हल रहा चला,
होता मध्यान्ह औ, उठता वह तिलमिला,
बैलों को खोल कर, लथपथ हो स्वेद से,
छाया में लेट वह जाता श्रम खेद से,
इसी समय व्योम में मृदु रव करते हुए,
घिरते घन, विश्व की ज्वाला हरते हुए,
होती धुँधली दिशा, होता धूमिल दिगन्त, बहती गीली हवा,
छाया में कृषक को देती नव जन्म-सा;
आँखों में वाष्प ला, तन-मन की सुध भुला उठता क्यों गुन-गुना?
उठता क्यों गीत गा ?

तुच्छ न समझो

तुच्छ न समझो हिमगिरि इन नश्वर मेघों को,
जब तक तुम हो बने रहेंगे तब तक ये भी,
सह सकते यदि तुम असीम झंझा-वेगों को
तो पृथ्वी पर बरसाते पवि-पावक ये भी,
तुच्छ न समझो इन को, ये क्या हैं कर सकते
महा-प्रलय के दिन तुम यह प्रत्यक्ष करोगे,
बरसेंगे जब ये नभ से सब ओर चमकते,
कौन रहेगा तब! तुम भी तो डूब मरोगे!

बच के चलो

बच-बच के चलो दुनिया में, मन! सावधान हो चलो,
अपनी समृद्धि में न किसी दीन को छलो,
अंगार बन, न दग्ध करो, किसी शोक तप्त को,
औरों को दो प्रकाश हृदय दीप की तरह जलो!

तुम को है याद

तुम को है याद हृदय, कितना हम रोये थे,
मुट्ठी भर सुख के कण जब हम ने खोये थे,
अब हम यद्यपि सदैव इतने सुख खोते हैं,
फिर भी करते न सोच, सुख पूर्वक सोते हैं,

ईश्वर से

मेरा उतावलापन ईश्वर, दो तुम गहरे धैर्य में बदल,
मेरी चंचलता को करदो तुम हिमगिरि-सा सुस्थिर अविचल,

मेरे उर के उद्देश्य करो, रवि-किरणों-से पवित्र, उज्ज्वल,
मेरे दुर्बल प्राणों को, दो तुम उमड़ी नदियों का-सा बल !

उतावलापन

बड़ी दूर से एक अमूल्य पेड़ मैं लाया,
आँगन में, आँखों में, मैंने उसे लगाया,
उस के चारों ओर चुना पत्थर का घेरा,
लट्ठी धर कर जानवरों से उसे बचाया,
सींचा उसे स्वयं अपने हाथों से, जल से,
जब-जब भी रवि की किरणों ने उसे तपाया,
नींद-भूख अपनी सब छोड़ी उस के पीछे,
उस को मैंने प्राणों का भी प्राण बनाया,
बीते कई वर्ष पर वह पौदा वैसा ही रहा,
भरा न बड़ा हो रंग और खुशबू से,
आखिर एक रोज, मुझ को गुस्सा हो आया,
और काट डाला मैंने उस को चाकू से;

हे प्रभो

हे प्रभो मेरे हृदय से यह व्यथा दारुण हरो,
हे प्रभो मेरे मृतक तन को पुनः पूरा करो !
उठाओ मुझ को पुनः ससार के रण-क्षेत्र में,
इस निराशा भरे उर को शक्ति साहस से भरो !

मौत खड़ी

हँस मत, भाग्य की नजर कहीं न लग जाए,

हँस मत, कहीं आ न वह तुझे फिर सताए,
गड्ढे के ऊपर तू खड़ा हुआ देख ले,
नीचे है खड़ी मौत सूना मुँह बाए!

कुछ कमी

हो गया हूँ ठीक पर यह लग रहा है,
कहीं जैसे कुछ कमी रह ही गई है?

पुनः आशा

शान्ति नयनों में मनोहर, नींद बन कर छा गई,
गये सुख ले कर हृदय में पुनः आशा आ गई!

सीता

छोड़ राम को भू पर सीता, आप धरा में लीन हुई,
अपने दुख के असह भार से, वह पृथ्वी में डूब गई;

कृतज्ञता

सौ शाप दिये जब ईश्वर ने तब कहीं एक बरदान दिया,
सौ बार निराश बना मुझ को आखिर आशा का भान दिया.
मैं हूँ कृतज्ञ उस का जिस ने मेरे पथ में काँटे बोये,
पर मेरी आहों को जिस ने गंधर्वों का-सा गान किया!

तन्मयता

है न सुरीला स्वर मेरा, पर मैं तन्मय हो गाता,
सुन्दर और असुंदर सब में यौवन मधु-भर जाता,
सुख-दुख मुझे विकल कर देते, पर मेरे गाने में,
है मर्मज्ञ! न तुम सुख पाओ, पर मैं तो हूँ पाता!

गाता हूँ

गाता हूँ मैं छोटे गीत, छोटे-छोटे सुंदर गीत !
छोटे गीत रसीले गीत, छोटे-छोटे सुंदर गीत,
जिन से पाठक हों न विभीत, भर लाएँ आँखों में प्रीत,
गाता हूँ मैं छोटे गीत, छोटे छोटे सुन्दर गीत !

पिक हे

राधा-गोविन्द नाम पिक हे उचारो !
बोलो हे श्याम-श्याम प्रेम-रूप धारो !
राधा-गोविन्द नाम, पिक हे उचारो !
बन-बनमें रुदन करो, निशि-दिन बन विकल फिरो;
वंशी के बसी श्याम, नयनों में धारो;
राधा गोविन्द नाम, सर हे उचारो;
बोलो हे श्याम-श्याम प्रेम-रूप धारो,
राधा-गोविन्द नाम पिक हे उचारो !

नाम-वियोगी

कल नदी के शून्य-तट पर था तुम्हारा प्रिय वियोगी !
शरद के उस शून्य घन की, क्या न जाने दशा होगी !
'नाम वियोगी ना जिए, जिए तो बाउर होय,
कल नदी के शून्य तट पर था तुम्हारा प्रिय वियोगी !

तुम नहीं जलधर

तुम नहीं जलधर अकेले !
शैल के तल से निकल कर श्री-वियुक्त वसन्त-से,

शून्य नभ में घूमते तुम और तिल-तिल कर बिखरते,
तुम नहीं जलधर अकेले!
इस गगन में मुक्त स्वर से रुदन कर मिटते हुए!
खोजते प्रति शैल में प्रिय को तड़ित-दीपक लिए!
तुम नहीं जलधर अकेले!

मुँदा कमल

हाय! प्रेम का मुँदा कमल मैं कैसे खोलूँ?
मैं अपनी जल-वासिनी-छाया से क्या बोलूँ?
वह लहरों से डरती, मुझ से मारुत डरता,
वह हँसों में हँसती, मुझ पर बर्फ फिसलता!

धीर धरो

धीर धरो वह तुम्हें मिलेगी, तरु वर मधु-रितु तो आने दो!
सौरभ के घर खुल जाने दो, दूर देश में फिर वह कोकिल,
भूली रह न सकेगी, तुम्हें मिलेगी! धीर धरो!

हे शिव शंकर

तुम जागोगे भी? हे शिव-शंकर! मेरे उर में हे डमरू-धर!
रुद्र रूप नटराज भयंकर! तुम जागोगे भी? हे शिव शंकर!
प्रलय चरण हे! हे दिशा-वसन! कैलाश नाथ हे! हे मदन-दहन!
नयन-तीसरा खोलोगे भी? हे शिवशंकर! तुम जागोगे भी!

स्वर बनो

मेरे हृदय के स्वर बनो! आ, हृदय के देव-
गृह में तुम पुनीत अमर बनो!

बीज बन संगीत के मेरे हृदय से उठ जगत पूरित करो,
नीड़ अपना प्रिय बना मेरे हृदय को, तुम मधुर कूजन करो !
तुम विहग सुन्दर बनो; स्वर बनो; मेरे हृदय के स्वर बनो !

दूब हूँ

मैं सुकोमल दूब हूँ, मुझ पर चरण धर,
सुन्दरी जाओ मधुर स्वर कर!
ललित गति से
मैं मनोहर पुष्प हूँ, मुझ को चयन कर,
सुन्दरी! उर में छिपाओ, चूम नव रति से !

जाओ मत सुन्दरी

छोड़ मुझे अभी कहीं ! जाओ मत सुन्दरी!
आया जब था प्रभात, वृक्षों की कुंज में,
तुम को तब देख खड़ी, किरणों की कुंज में,
लोचन ये चकित रहे, रहे जहाँ थे वहीं!
जाओ मत सुंदरी, छोड़ मुझे अभी कहीं !
आया मध्यान्ह नींद, पलकों पर झुक गई!
सहसा मृदु वंशी से मुखरित बीथी हुई !
देखा तुम दूर विजन पथ पर आलस भरी,
चलती हो छोड़ शून्य प्राणों की यह पुरी,
लोचन भर चले, सोच, लौटोगी तुम नहीं,
लौटोगी तुम नहीं !! लौटोगी तुम नहीं !!!

संध्या-श्री

"तुम्हें नीर दे सकी हाय, पथिक मैं नहीं,
इसी बात से कहीं, कुपित न हो जाना !"
और मँजीरें बजा, निर्झरी को लजा
चली गई सुंदरी, नीर से भरी-भरी !
तृषा से विकल बना, एक विटप के तले,
मैं पड़ा था हुआ, तभी चरण थे चले,
आह ! छलकते हुए, किसी तरल लहर के !
नीर, मधुर नीर भर, गिरि की उस राह पर,
जाती थी सुन्दरी, नीर से भरी-भरी !
मुझ से कुछ दूर जा, नीर-पात्र को नवा,
और राह में पड़ी, शुष्क तप्त धूल को,
तृषित समझ सदय हो, उसे भिगा नीर से,
शून्य नीर-पात्र ले, जाने क्यों मुख फिरा,
मुझे देख मुस्करा, दौड़ कर चली गई,
निर्जन में सुन्दरी, नीर से भरी-भरी !

आशा

"तुम्हें जगह दे सकी, नहीं रात के लिए,
पथिक तुम इसी लिए, कुपित न हो जाना !"
द्वार बंद कर गई, यह कह वह सुन्दरी,
हँस हँसी विमोहिनी, पथिक प्राण-हारिणी !
बजा ललित करधनी, चली गई सुन्दरी,

हँस हँसी विमोहिनी, पथिक मनोन्मादिनी,
छोड़ द्वार-देश पर, एक निराधार को,
और अंधकार को; चली गई सुन्दरी!
भीम अंधकार में, भय के संसार में,
मैं विदेशी रहा; और देखता रहा,
अश्रु हीन दृष्टि से पथिक जिन्हे देख कर,
रुद्ध द्वार मुक्त कर, हँसती थी सुन्दरी,
हँसी लाज से भरी; हँसती थी सुन्दरी!!
बहुत दूर भ्रमित हो, कई बार राह खो—
अंत में अकेली, कुटी यह मुझे मिली,
मिली जगह पर नहीं, लौट कहाँ जाऊँ!
उसी द्वार पर पड़ा, मैं विदेशी रहा;
रात भर कुटीर में रहे बोलते सुर,
नाचते नूपुर, इस हृदय अधीर में,
रात भर कुटीर में, रहे गूँजते सुर!
बहुत देर है हुई, आश अब नहीं रही,
खुलेंगे न द्वार ये, चलूँ लौट यहाँ से,
सोच यही बात मैं, चला गया वहाँ से;
घने विपिन पार कर, शैल-पथों में उतर,
दूर घाटियों में, मैं विलीन हो गया;
इसी समय दूर से, घने अन्धकार में,
वह पुकारती मुझे, "पथिक! तुम कहाँ गये?"

हे गिरि

हे गिरि! चाहे कितनी ही सुन्दर घाटी हो,
कितने ही सुन्दर बन हों, पुलिनों पर चाहे,
कैसी ही छवि हो गुंजन करती फूलों में,
पर न रुकी रहती सरिता अपने कूलों में!

दो गये थे

दो गये थे साथ ही हम, लौटता मैं ही अकेला!
वही सरिता तीर है, वह ही विलोल प्रभात वेला!
लौटती है म्लान कुसुमों के मुखों पर चेतना!
गा रही कोकिल निकुंजों में विजन की वेदना!
देखता हूँ आज जल में, निज मलिन मुख मैं अकेला!
दो गये थे साथ ही हम, लौटता मैं ही अकेला!

नैणा मोर वाण पड़ी

(यदि) मैं भी हँस हँस पछता पाती, सावन के मेघों से डरती,
होरी में घुल-घुल खिल पाती, कितनी होतीं इस जीवन की
विरह-भरी रात! नँद-नंदन, दूर न रहतीं वंशी की वे बातें!
नैणा मोर वाण पड़ी!

मीरा नाचे रे

सावन के मेघ घिरे उर पर, इन्द्र-धनुष केशों में कस कर
धुँधले नयनों वाले भूधर
बोले झरनों को आज नचा "मीरा नाचे रे!'

झरने

झरने! मैं प्यासा पथिक नहीं, हूँ खड़ा तुम्हारे पास अगर
मैं उसे देखता जो आती अपना सूना घट लिए इधर;
बन-देवी-सी निर्जन बन में, मृदु-मृदु गुंजन कर कानन में!
तुम गाते जाओ वही गीत, सुन जिन को उसकी कलशी की,
आँखें भर आती हैं सप्रीत, वाणी हो जाती व्यथा-भरी!
मैं उन कानों में भर दूंगा चुप वही मोहिनी स्वर-लहरी!

फेनिल हो हँसती

वह हिम-गिरि के देवदार-बन में है विचरण करती,
नीरद कुंज बना कर वह, शशि-वदनी रहती,
नहीं किसी ने पिये अझर झरते वे निर्झर,
जिन पर रहते हिलते उस के हृदय मधुर अधर,
शशि-आलिंगित सांध्य-जलद से गिरि पर सुंदर!
वह तट पर उल्लास उछाल छलक कर बहती,
पत्थर में वह फूल खिला फेनिल हो हँसती!

झर गये वे

झर गये, वे झर गये! वक्त भर देते धरा को जो सुरभि से,
खिल न पाये वे जरा भी, और भू पर झर गये!
जिन्हें पा कर वसुमती होती सुखी, याद से अपनी उसे वे
दुखी इतना कर गये, झर गये वे झर गये!

कुम्हला जाती हँसी

कुम्हला जाती हँसी हृदय से अधरों तक आते ही,

रो उठती हैं आँखें अधरों पर, स्मिति के छाते ही,
हो जाता वरदान और ही, कुछ मिलने-मिलने तक,
पात्र सुधा का विष बन जाता, हाथों के पाते ही !

अकथ श्रान्ति

मृदुल चरण, अकथ श्रान्ति, मरु-थल की नीर-भ्रांति!
ठहर-ठहर है विनाश, प्रखर किरण-जाल-त्रास,
होती क्यों मिलन भ्रांति, मृदुल चरण अकथ श्रांति !
अलस नयन मूँद देख, पास आई मिलन रेख,
भ्रमित नहीं कभी शान्ति, मृदुल चरण अकथ श्रान्ति।
तरुण ! बैठ करुण द्वार, हृदय-देव-पद-पखार,
यहीं बना कुटी एक, पूजन कर बार-बार,
मृदुल चरण अकथ श्रान्ति, मरु थल की नीर-भ्रांति !

अन्तिम दिन

अन्तिम दिन ! मेरे जीवन के अंतिम दिन!
पीले पातों पर पड़े हुए जीवन के गीले अंतिम दिन !
निश्चल करुणा नयनों में भर, देखते तुम्हें शैल-विपिन,
मेरे जीवन के अन्तिम दिन!
लाया था जग में सूर्य तुम्हें, घेरती तुम्हें है निशा मलिन,
हो जाओगे तुम तिमिर-मग्न, क्षण भर ही में हे प्यारे दिन!
जीवन के सुंदर अन्तिम दिन !

दिन-धन-शोभा

अन्तिम दिन-धन-शोभा, हिम-शिखरों पर बिखरी!

देख रहे थे नयन मृत्यु की शान्ति से भरी,
मौन मर रही थी शोभा निर्मल तुषार पर,
मृदुल चाँदनी-सी शशि की तन-लता से झरी,
देख रहे थे बादल झुके हुए शैलों पर,
स्नेही जन से उसी व्यथा से प्राणों को भर,
बुझता था धीरे-धीरे निराश हो अम्बर!
कुछ न कर सके शिखर, भर गई ज्योति हृदय पर,
रहे देखते पथराई आँखों से अम्बर,
जैसे मैं खो प्रिये तुम्हें अपनी बाँहों से,
माँग रहा हूँ मरण, हृदय में अंधकार भर!

रोदन-स्वर

चली गई किरणें दिन भर की, गिरि-सरिता से उठ कर,
अब उदास होती हैं आँखें, इस पृथ्वी को लख कर!
अंधकार की धूमिल लहरों में यह प्रकाश डूब रहा,
दिन भर थक कर विहग अभागी, अब उजड़ा घर खोज रहा
यह आँखों से दूर हट रहा, तम-राक्षस वन-श्री को,
चली जा रही धीरे-धीरे यह यम की नगरी को,
सरिताएँ अदृश हो रहीं, तमस-गर्भ से अब उठता
उन का रोदन-स्वर केवल अंधकार में फिरता!

ओ मौन

वाणी जब हुई शान्त, मन का कलरव भी हुआ शान्त,
जैसे झरने को प्राप्त हुआ हो हृदय, उदधि का-सा प्रशान्त

वाणी जब हुई शान्त, छिप गई कलह की कुटिल रात,
उड़ गये द्वेष के खल उलूक, सब ओर हुआ उज्ज्वल प्रभात!
वाणी जब हुई मौन, तब हुई सुधा की पुलक वृष्टि
सब ओर, मुग्ध शशि-किरणों से ढक जाती जैसे शरद सृष्टि!
वाणी जब हुई मौन, हो गये तृप्त तब हृदय-प्राण,
ओ मौन! कंठ में तुम आओ, मुझ को न चाहिए अमर गान!

मौन

तुम हो वह सागर, जिस के अभेद्य अन्तर में,
बजते रहते हैं सारे संगीत सभी स्वर!
तुम हो वह अंधकार बहु कथनों की शोभा,
एक रूप हो सोई रहती जिस के भीतर!
तुम समाप्ति - वह, वाह्य तर्क से थक कर,
वाणी लेती विश्राम-शांति, जिस में आ कर!

मौन रह

मौन रह, मौन रह, अपना है कौन यहाँ, अपना है कौन यहाँ!
उर पर जो तुम्हें धरे, ऐसा है कौन यहाँ, ऐसा है कौन!
यह तो परदेश, चिन्ताएँ सभी ओर, और क्लेश-क्लेश
दूर वह प्रशान्ति, दूर जननी का देश, यहाँ क्लेश-क्लेश!
मौन रह, मौन रह, रो मत, मत हँसी करा,
अपना है कौन यहाँ, अपना है कौन?

जुलाय १९४७ ई०

अब न रुकेगा

अब न रुकेगा किसी तरह भी मेरा जाता जीवन!
अब लेगी विश्राम श्रान्त अति मेरे उर की धड़कन;
रोना मत मेरी जननी, यदि जीवित रह न सका मैं,
बार-बार आऊँगा मैं बन तेरे ही अंचल का धन!
यह प्रवास है, यहाँ अनेकों में न एक भी अपना,
सोचोगी तुम कितना दुख-प्रद है प्रवास में मरना!
किन्तु मरण के समय शत्रु भी रो उठता है दुख से,
अनजानों को तो कहता है, सकल विश्व ही अपना!
यह कोई दुखिया रोती है, मुझे गोद में भर के,
इस अनजान जननि के आँसू पर न मुझे अकुलाते!
मेरा मन अब सोच रहा है, देख मृत्यु की छाया,
तुम तक कैसे अपने उर के समाचार भिजवा दे!
जिस काल कुसुम थाली में धर दीपक ज्योति जला कर,
मेरी कुशल मनाने जाती होगी, मंदिर-पथ पर,
यदि उस काल कुसुम गिर जावें, दीपक यदि बुझ जावे,
जननि! समझ लेना मेरा भी अस्त हुआ जीवन बुझ कर,
मुझे भूल, मंदिर में जाना, तुम को शान्ति मिलेगी,
फिर न प्रतीक्षा मेरी करना, तुम्हें प्रतीक्षा क्या देगी!

जीवन-मृत

मुझे जीवन में मरण दो!
जो न मिथ्या स्वप्न देखे, मुझे ऐसा जागरण दो!

जिसे शोक करे न चंचल, जो रहे निस्संग, निश्चल,
नरक में भी शान्त-उज्ज्वल, मुझे ऐसा कठिन मन दो!
जो हृदय का ताप हरते, निराशों में आश भरते,
कंठ से मधु सदृश झरते, मुझे प्रिय ऐसे वचन दो!

रख हरी भरी

रख हरी भरी कुछ दिन गोदी यदि छीन सभी कुछ ईश्वर ले,
आँसू से बेबस आँखें भर, उर थाम खड़े जग में रहिए!
श्रम-जल की बाढ़ों से सींची जीवन की पकती खेती पर,
यदि टूट पड़े विप्लव अम्बर अपना दुख किस से फिर कहिए?
बन कर जीवन की कल्प-लता नस-नस में हो जो फैल गई,
यदि वह विष की कटु बेल हुई, कैसे फिर दूर उसे करिए?

तब कैसे हो

तब कैसे हो जननी पूजन!
काँटों की कंटक-शय्या पर तड़प रहा हो जब व्याकुल तन!
मृत्यु-उदधि के कोलाहल से पूरित हों जब भयभीत नयन!
कैसे हृदय सुने इन चरणों को कोमल नूपुर-गुंजन?
भस्म हो गये हों दावानल में जब मेरे प्रिय वन-उपवन?
क्षमा करो माँ, तब न तुम्हारा हो यदि नव कुसुमों से अर्चन!

है संतोष

मुझे इसी में है सन्तोष!
हिमगिरि में छोटा-सा घर हो, धूप सेकने को दिन भर को,
एक सुखद आँगन हो, जिस में बहती रहे हवा निर्दोष!

आँखों के आगे हँसते हों, हिम के स्वच्छ शिखर, झरते हों-
जिन से निकल निकल कर झरने करते उपलों पर कल-घोष!
चाह न हो कुछ भी पाने की; डर न किसी के खो जाने की,
कटते रहें शान्ति से मेरे नीरव प्रात, सुरम्य प्रदोष!
मुझे न जग में कोई जाने, मुझे न परिचित भी पहिचाने,
रहूँ दूर मैं जहाँ हृदय को छू न सकें पृथ्वी के दोष!
वहाँ मधुर फूलों में घिर कर, विहगों की ध्वनियाँ सुन-सुन
रहूँ खोजता गुन-गुन कर मैं, अमर शान्ति का शुचि मधु-कोष!

स्वर्ग-सरि

स्वर्ग-सरि मंदाकिनी! हे स्वर्ग-सरि मंदाकिनी!
मुझ को डुबा निज काव्य में, हे स्वर्ग-सरि मंदाकिनी!
गौरी-पिता-पद-निसृते! हे प्रेम-वारि-तरंगिते!
हे गीत-मुखरे! शुचि-स्मिते! कल्याणि भीम मनोहरे!
हे गुहा-वासिनि योगिनी! हे कलुष-तट-तरु नाशिनी!
मुझ को डुबा निज काव्य में हे स्वर्ग-सरि मंदाकिनी!
मैं बैठ कर नवनीत कोमल फेन पर शशि बिम्ब-सा,
अंकित करूँगा जननि तेरे अंक पर सुर-धनु सदा,
लहरें जहाँ ले जायँगी, मैं जाऊँगा जल बिन्दु-सा,
पीछे न देखूँगा कभी, आगे बढ़ूँगा मैं सदा,
हे तट-मृदंगोत्ताल ध्वनिते! लहर-वीणा-वादिनी!
मुझ को डुबा निज काव्य में, हे स्वर्ग-सरि मंदाकिनी!

जीवन-सरिता

जीवन-सरिता यह उत्तरंग! इस के स्तर-स्तर में काँप रहे कितने कलरव, कितनी उमंग! हिमगिरि का निर्जन मौन चीर, चट्टानों पर लहरा अधीर, गिर विद्युत-सी, गंभीर नाद-कर धरती पर अपने निनाद से गुँजा गुफाएँ, जगा गहन छाया में सोये नीरव वन, रवि की किरणों में चमक चली किस ओर छूट कर यह पगली! इस की छाया में कहीं भरे, तरुओं के शत-शत विपिन हरे, लहरों में सोए कहीं सरल-पुष्पों के हँसमुख मेघ मृदुल, हैं कहीं कांपते पके धान, हैं कहीं कूकते मधुर गान विहगों के, कहीं झुके तट पर सोने के फल, मधु से भर कर; इस की यात्रा में डूब गये कितने प्रभात के मेघ नये! इस के जल में झर गये सरल संध्याओं के कितने उत्पल! इस की पलकों में चमक जगे कितने शशि-तारे काँप लगे! इस के अंगों में पवनों के कितने मृदु चुम्बन प्रेम पगे! उर पर सुन्दर-सुन्दर छाँहें भर, फैलाए उर्मिल बाँहें तट के अधरों को चूम-चूम भँवरों के पीछे घूम-घूम यह चली जा रही चपल चरण हँस-हँस करती अस्थिर नर्तन! यह हास भरी, यह नृत्यभरी, यह प्राण भरी, यह मृत्यु भरी! भीषण मेघों को कर विदीर्ण नभ में होती क्षण-क्षण विकीर्ण विजली; बहती आँधी सवेग! वज्रों में झरते आज मेघ! वह देखो, फैला घोर जटा, ले कर विनाश की विपुल घटा, कितने टूटे-फूटे पहाड़!

आती है प्रलय रूप धर कर, देखो, कितने भूकंप प्रबल !
बाढ़ों के कितने भीषण दल ! उस के चरणों में बँधे हुए,
भीषण किल-किल कर दौड़ रहे ! खुल गया गगन, हँसती किरणें,
वह रहीं स्निग्ध शीतल पवनें, हिलते तरु-पल्लव, हँस-हँस कर,
वृन्तों से झरते-झर-झर-झर, दूर्वा पर मोती; तरु-तरु पर—
गाते पुलकित खग झुक झुक कर; केशों में पीले पत्र झरे,
हिम-जल से नूपुर हस भरे, विपनों के अंतर से हँस कर,
बालिका-सदृश गाती सुन्दर, आती वह किरणों से मिलने
नीले नभ के नीचे हँसने ! शिखरों से जल लाती,
हँस-हँस कर तट पर उठ आती; भरती कितने घट गा गभीर
अंजलियों से द्रुत फेंक नीर, नहलाती कितने मृदुल वदन
फूलों में फैला मृदु कंपन, हंसी-सी उज्ज्वल पर पसार,
उड़ जाती कूजन कर अपार, अस्पष्ट क्षितिज के अंतर में !
हिल्लोलवती, उल्लासवती, उन्माद-भरी, निर्मल युवती,
हाथों में ले हसती बिजली, दुर्गम जीवन-पथ पर निकली,
करती निज सुख की लहरों से घन घोर घाटियों को उजली,
जीवन की चाह अपार लिए, भीषणता से शृंगार किए,
जीवन की दूती जीवन को सौंपती मृत्यु के हाथों जो
उत्पन्न स्वर्ग के, हिम से हो, शैलों में काट स्व बचपन को
यौवन भर पृथ्वी में बह कर, अन्त में डूब जाती सत्वर
तम-हीन मरण के सागर में, तम के भीषण अन्तर-तम में
यह मधुर गीत गाती-गाती, प्रति पल निज उद्गम से आती,

यह मधुर गीत गाती-गाती, सागर से मिलने को जाती,
पृथ्वी के ऊपर प्रवहमान, यह आशा की रेखा अभंग,
यह जीवन की उज्ज्वल तरंग!

स्निग्ध-शान्ति

घर छोड़े वर्षों बीत गये, मैं हिम-शिखरों पर घूम रहा,
देखता दृश्य जब नये-नये! वर्षों से बर्फानी पहाड़.
घन घोर शोर करती नदियाँ, सुनसान पर्वतों पर फैली
पीड़ा से पीली चाँदनियाँ, ये ही अब मेरे साथ रहे,
घर छोड़े वर्षों बीत गये! मैं किस प्रदेश में आ पहुँचा!
हैं चारों ओर खड़े पर्वत, जिन का हिम झरनों में झरता,
जिन के प्राणों को झरनों का संगीत मधुर मुखरित करता!
जिन के नीचे सुन्दर घाटी, धानों से पीली पड़ी हुई,
जिस से सुगंधि की मृदु लहरें, मारुत में उड़ती निकल रहीं!
गिरि-वन से छूटी एक नदी, घाटी में गाती घूम रही,
आँखों में रवि के बिम्ब नचा, अधरों पर धर-धर चूम रही;
निर्जन तट पर फूलों से पड़-पीली लतिकाएँ झुकी हुई,
भौंरों की गूँजों से हिलती, छवि-शान्त पवन में रुकी हुई!
मैं लता-भवन में आ ठहरा, कोकिल मेरे ऊपर कूकी,
फूलों से झर-झर सुरभि-झरी, केसर से दूबा ढकी हरी!
कितना एकान्त यहाँ पर है! मैं इसी कुंज में दूबा पर
लेटूँगा आज शान्त हो कर, जीवन भर चल-चल, अब थक कर!
ये पद जो गिरि पर सदा चढ़े, चोटी से घाटी में उतरे,

सुनसान पर्वतों से हो कर, घन घोर जंगलों में विचरे,
ये पद विश्राम माँगते अब, इस हरी-भरी धरती में आ,
ये पद न थके जो अभी कभी, ये अब न सकेंगे पग भर जा!
मेरे अंगों में फैल रही, निद्रा की स्वप्नमई ममता,
आँखों में भरती शनैःशनैः, विपिनों की धूमिल नीरवता,
झरनों के स्वर, प्राणों को हर, ले जाते धीरे आज कहाँ!
निर्जन शिखरों पर फूलों में नीरवता फैली हुई जहाँ!
ले जाते पुष्प धरातल में, बीजों के बीच मुझे; जिन पर
रक्खे न अभी आशाओं ने, जीवन के रंग-विरंगे कर!
अपने उद्गम को लौट रही, अब बहना छोड़ नदी मेरी,
छोटे से क्षण में डूब रही, अब जीवन की पृथ्वी मेरी!
आँखों में सुख से पिघल-पिघल, ओंठों में स्मिति भरता-भरता,
मेरा जीवन धीरे-धीरे इस सुन्दर घाटी में मरता!
अब मेरी आँखों में हँसते शशि की प्रिय मूर्ति न जागेगी!
बन-बन से मेरे लिए हवा, मधु-ऋतु की गूँज न लावेगी!
है आज समाप्ति दुःख-सुख की, आखिरी सिसकियाँ ये मेरी!
है यह पृथ्वी का अन्तिम दिन, आखिरी हिचकियाँ ये मेरी!
मेरे शव को घेर खड़े होंगे जब कुछ परदेशी विस्मित हो,
मैं कौन यहाँ? क्यों पड़ा हुआ? समझा न सकूँगा मैं उन को!
फूलों के बीच जला मुझ को, जब लौट चले वे जावेंगे,
उर की कृतज्ञता से मेरे लोचन न पिघल तब पाएँगे!
जो शान्ति थकित को मिलती है, वह स्निग्ध शान्ति हो मेरी!

पवनों को सौरभ दे-दे कर, भ्रमरों की गूँजे पी-पीकर,
हँसने से थक गिर दूर्वा पर, जो शान्ति कुसुम को मिलती है
वह स्निग्ध शान्ति हो मेरी!

स्निग्ध शान्ति के इस वरेण्य दूत की 'जीवन गा था' अत्यंत संक्षिप्त है—

जीवन ने मुझ को प्रभात की भाँति खिलाया,
आशाओं ने मुझे कुसुम की भाँति हँसाया,
संध्या ने कर दिया थकित मुझ को शोभा से,
स्निग्ध मरण ने मुझे निशा की भाँति सुलाया!

मृत्यु का वरण कर उस ने अपने काव्य में जीवन भरा है। निराला जी का कहना है—

मरण को जिस ने बरा है, उसी ने जीवन भरा है,
परा भी उस की, उसी के अंक सत्य यशोधरा है।

निराला जी ने जो कुछ कहा है वह चन्द्र कुंवर से घने रूप में सम्बंधित है; किन्तु चन्द्र कुँवर भी 'अमरता' को रूप-वाणी देने के पश्चात् पृथ्वी से विदा हुए—

नाच रहे थे जहाँ युवक गण और नारियाँ
पूछा मैं ने रहती है क्या यहाँ अमरता?
बोली आंखों में आँसू भर कुछ कुमारियाँ
'झर जायेगा कल ही यह ही सुख, यह सुन्दरता!
गीत लिख रहे थे कुछ कवि जग के सुख-दुख के?
मैं ने पूछा होंगे अमर तुम्हारे स्वर क्या

करुण हुए सहसा ही सब स्वर उन के मुख के
बोले वे–'प्रिय मित्र, यहाँ सब कुछ नश्वरता !
थी बसन्त की मादक दोपहरी बन-बन में,
फैली थी आभा, कोमल-कोमल कलियों की.
जाने कैसे चलते-चलते मैं नंदन-बन में
पहुँच गया, यों ही गुंजन सुन-सुन अलियों की,
वहाँ लेट, उगते फूलों की मृदु शय्या पर
मरती थी आहें भर-भर कर एक सुन्दरी,
पूछा मैं ने–'कौन पड़ी हो तुम भू पर ?'
बोली वह–मैं हाय ! अमरता मरण से भरी !

हिमवंत की पृथ्वी ने अनादि काल से एक से एक दिव्य गंधर्व-किन्नर कवियों को उत्पन्न किया है, जन-कोलाहल के बीच अपने ही स्वार्थों में डूबे लोगों को इतनी फुर्सत कहाँ कि उन अमृत हृदों का पान करें जिन सौभाग्य शालियों को ऐसा अवसर प्राप्त भी होता है समय आने पर, अपनी कुरुक्षेत्र भूमि में आ कर वे भी अपना रंग बदल देते हैं। बीसवीं शताब्दी को उत्तराखंड ने चन्द्र कुँवर, अम्बरीश त्रिपाठी, यशवंत, भारती, चक्रधर बहुगुणा अंबर आदि अनेक कवि दिए है। किन्नर कवि के रूप में चन्द्र कुँवर आये। अंबरीश के स्वर गंधर्व स्वर है-'मानस-हंसिनी, बेजोड़ वीरा' उन की भव्यतम देन है त्रिपाठी-सौन्दर्य-गान के गायक है, यशवंत के शक्ति प्रवाह के रुद्र-गीत है, चक्रधर कलाकार कवि है। अंबर ने मैथिली शरण का अनुसरण किया। भारती की अश्व बलगा वर्म का संदेश